मौली

[बारह कहानियाँ]

श्री पहाड़ी

प्रकाशगृह, इलाहाबाद

प्रकाशगृह : नया कटरा, इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण

मूल्य दो रुपया, आठ आना

मुद्रकः—शारदा प्रसाद, देश सेवा प्रेस, इलाहाबाद

यह श्री पहाड़ी की बारह कहानियों का संग्रह है। आशा है कि उनके पाठक इसमें कुछ नवीनता अवश्य ही पावेंगे।

प्रकाशक

विषय-सूची

श्री गोविन्द प्रसाद उप्रेती

को

मौली

जैसे यहीं बैठ कर कुछ लिखूँगा। पर नहीं, यह लिखना जरूरी कब रहा है। अपनी जरूरत कुछ हो—कुछ ही सही। उसी में रह कर, अपने को ढूँढ़ता हुआ किसी तथ्य पर क्या कभी पहुँच सकूँगा।

लगता है कि इस लम्बे-चौड़े, काली सुफेद राख से भरे हुए मैदान पर, अभी-अभी मौली अपनी उँगलियों से एक लम्बी चिट्ठी लिख, कहता चला गया है—पढ़ना तू!

मुझे पढ़ना है। इस इतनी बड़ी दुनिया को व्यवहार में पढ़ा। स्वयं अलग रहकर, कुछ अनुभव मात्र संचित किये हैं। अपने इस व्यक्तित्व के बाद अब क्या चाहिये? और यह मौली की चिट्ठी:

भाई गोविन्द,

तुम्हारी चिट्ठी मिली थी। जैसे कि उसके मिल जाने पर मुझे इस दुनिया में पसरने कुछ और जगह मिल गयीं। अजीब उलझनें जीवन से लगी रहती हैं। कुछ झगड़ा भी साथ है। वह अलग हटता नजर नहीं पड़ता। क्या इसी के बीच एक दिन समा जाऊँगा? मैं बड़ा नहीं, और अपने दायरे में पाकर तुमको भी बड़ा नहीं मानता हूँ। वैसे तुम्हारी बीवी है; बच्चा है; दुनिया भर के बड़े आदमियों के बीच तुम चला-फिरा करते हो। तुम्हारे समाज की फिक्र मुझे कब रही, न तुम्हारी ही है। न यह चाहता हूँ कि तुम मेरी परवा किया करो। यह सब आखिर हमारे लगाव में मार्फत क्यों रहे? हम अलग-अलग जीव हैं। तुम अपनी वकालत की पोथियों के साथ मुस्तगीसों से माथापच्ची किया करो। मेरे दफ्तर में कई रंगीन तबीयत के आदमी हैं। जरा हँसी आती है। तुम तथ्य चिट्ठी में चाहते हो। मैं परेशान हो उठता हूँ। वास्तव

क्या है, नहीं जानता। मुझे फुरसत पाकर चिट्ठी लिखने की आदत है। वास्तव—अवास्तव साथ नहीं रखता। मेरी दुनिया में तो कानूनी नजीरें नहीं हैं! न मैं उनका कायल ही हूँ। एक 'तथ्य' बन जाने की धुन मुझे नहीं।

'याद' तुमको भी आती है। यह 'याद' है क्या बला? न जाने यह क्यों आती है। आती ही है। मुझे अक्सर याद आती है अपनी भाभी की। मैं नारी से दूर रह, उसकी घृणा भर पाना चाहता हूँ। लेकिन भाभी आज भी यदि पास आकर कहे—'उठ!' तो उठ खड़ा हूँगा मैं—चल-फिर सकूँगा।

भाभी की एक छोटी-सी कहानी है। पड़ोस में, दूर रिश्ते के भाई के मर जाने पर वह भाभी दुनिया से मुँह छुपाकर चलती थी। फिर भी......! अन्त में वह मायके चली गयी। जाते समय कह गयी थी—'यह वैधव्य ही हमारा सच्चा इम्तहान है मौली।'

वह इम्तहान कैसा होगा, तब थोड़े ही समझ पाया था!

भाभी की आँखों की पलकें, जाते-जाते भींग गयी थीं। गदगद स्वर में कहा था उसने—'दुःख तू क्यों ले लिया करता है मोल। इस तरह चलना ठीक नहीं और आँखों से ओट होते ही भूल जाना मुझे भी। मेरी कसम ले।'

भाभी के चरणों को छूने जब हाथ बढ़ाया था, तब ही वह एक गज पीछे हट कर बोली थी, 'मेरे पापों का बोझ बढ़ाना ही, बाकी रह गया है क्या अब?'

सात साल बाद, उस भाभी की धुँधली तसवीर कुछ याद आती है। तुम्हें भाभी की कहानी सुना-सुनाकर, क्या मैंने गलती की थी। तो जाने दे इस भाभी की रटन को। अकारण आज उसे आगे लाने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है।

ठीक, जीवन में कौन एक दिन कुतूहल बटोर लेना नहीं चाहता

है। जैसे कि यही हमारी जिन्दगी को चालू रखने के लिये चाहिये! यह रोज साथ दे, तब हमें अपने को चलाये रखने में सहूलियत होगी। इसमें कोई सन्देह नहीं है। शरीर को रोमांचित करने वाली भावनायें एक जरूरत हैं न! किन्तु तुम्हारी फुरसत! यह तकाजा। जैसे कि तुम अपनी ऊँची बाड़ वाली काली टोपी लगाये, दस बजे कोर्ट जाने के लिये अपने जीने से उतर रहे हो। मैं कमरे में बिस्तर पर लेटा, रजायी ओढ़े पुकार रहा हूँ—'गोविन्द जी!'

तुम्हारी वह कोर्ट की इमारत मुझे खूब पसन्द है। वहाँ नाशपाती, खुमानी और आड़ू के पेड़ों को रोज देखकर, आज जब उनकी याद आती है, तो उनको खाने दिल मचल उठता है। और वह बेलें। उनका क्या नाम है? जो बाहर बारामदे के खम्भों से उलझी रहती हैं। तुमको तो याद होगा न? खैर! लेकिन वह ऊँची चोटी, जहाँ से चौखम्भा, नन्दादेवी, खूब बरफ से ढकी दीख पड़ती हैं। आस पास कितना घना जंगल है। कितनी हरियाली है। लगता है कि नियति ने जीवन-गति के लिये वह उपयुक्त जगह बनायी होगी।

फिर लीला! पिछले साल सब पत्रों में मैंने लीला के बारे में न जाने क्या-क्या लिखा होगा। लीला सुन्दर है। उसकी नीली आँखें खूब प्यारी लगती हैं। वह मेरी भावना है। मेरे जीवन को चलाये रखने का हथियार है। मैं मुर्दा हूँ और वह लीला वहाँ जीवन फैलाए रहती है।

लीला! उसका एक छोटा बच्चा था। बच्चा लीला को उभार देता। लीला बच्चे के पीछे लुका-छिपी करती ठीक लगती थी! लीला के शहर छोड़ने के बाद काफी बेचैनी मेरे मन में रही। जब एक दिन सुना, लीला ने बच्चे की मौत पर, अपने को सुन्दर कपड़ों से ढँक, एक छोटी कन्टरिया से मिट्टी तेल की बोतलें निकाल, अपने पर छिड़क, दियासलाई की रोशनी से अपने को बुझा दिया; तब मुझे बड़ी हँसी आयी थी। धोखा देकर दुनिया की दृष्टि से उठ, जब सोचता हूँ कि मैं ठीक-

ठीक हूँ, तब बड़ी हँसी आती है। अपने पर खुद हँसना असाधारण बात है। यह आदत डाले नहीं पड़ती है।

तुम जानते ही हो; दुनिया में कई दरजे के आदमी हैं। इस समाज की व्यवस्था अन्यथा चालू कैसी होती। मैं युवकों के समुदाय पर लोभी की तरह झांका करता हूँ। उनमें से कुछ लड़कों ने शादी न करना अपना फैशन बना लिया है। इससे दिल की पीड़ा बढ़ जाती है और अपनी कमी किसी के आगे नहीं आती। वे अपने भीतर घुमा-फिरा बातें करने के आदी हो जाते हैं। नारी मनोविज्ञान के विश्लेषण वाले पहलू का अधिक ख्याल उनको बाकी नहीं रहता। मैं उसी श्रेणी का एक अदना आदमी हूँ, जो जिन्दगी के चौबीस साल लांघ कर कभी पछताया नहीं।

तुमने विवाह किया। मैंने ही करवाया था। फिर क्या तुम पछताये थे? बच्चा जब तुम्हारे बीच आया, तभी तुम समझे होगे कि अब समाज के पूरे अंग हो गये। सुना हर एक नारी की अन्दरूनी ख्वाहिश होती है कि वह माँ बने और हरएक पुरुष की बाहरी पिता बनने की। तुम खुश हो, अच्छी बात है; खुश ही रहा करो तुम! भले आदमी कहाँ परेशान होते हैं? परेशानी बढ़ा लेना कुछ ठीक जँचता नहीं। अपने में नारी तत्व की गुदगुदी वाली धारणा को कितना घुमाया करूँ। वह मेरा निश्चित सा दायरा है। उसमें कहीं थक और रुक जाने की गुंजायश नहीं मिलती। सच्ची बातें जीवन से अलग खड़ी लगती हैं। तुमसे सही बातें अक्सर मैंने छुपाई हैं कि वक्त पर हमेशा तुम्हारे लिए नया रहूँ। अजीब-अजीब समस्यायें गढ़, तुमको अपने पास खींच लूँ। वैसे अपने से बाहर तुमको नहीं पाता। लेकिन...!

जून का वह महीना था। गाँव के पास गंगा के किनारे नहा रहे थे। वह जगह बहुत भली है। उसके पास ही एक मरघट है, जो सारी

दुनिया को सुलाकर, एक दिन खुद अपने में रह जायगा। नहाने, गोते लगाने और तैरने के बाद पास के गरम-गरम रेत भरे मैदान पर हम लोट लगाया करते थे। ऊपर नीला आसमान सुन्दर दीखता था। आज फिर उसी मैदान में चित्त लेटने की भूख उठी है। यह भविष्य अहसान की तरह एक रोज भी खड़ा नहीं रहता। इसीलिए आज कहीं किसी सन्देह का सवाल नहीं।

एक जमाने में उस मैदान में लोटते और गंगा में नहाते थकान नहीं लगती थी। एक दिन दुपहरिया को पानी से खेलते-खेलते सारी दुनिया को जब हम भूल गये थे, तभी रानी आयी थी। रानी को तो तुम जानते ही हो। वही जो कि कनेर के नीचे एक दिन मरी हुई मिली। उसकी दिली ख्वाहिश थी, वह अप्सरा होगी। पहाड़ों में कितनी बातें नहीं चलती हैं। रानी एक दिन गंगा से तांबे की गगरी पर पानी लिए, सुन्दर पीली धोती में माथे पर महादेव के मन्दिर की टीका लगा, थककर कनेर के पेड़ के नीचे दिवार पर गगरी टिका, सुस्ताने खड़ी हुई। वहीं ठिठुकी वह मिली। तेरह साल की उस लड़की को सुना, अप्सराएँ हर कर ले गयीं। इसे मैं विश्वास मानता हूँ। तुम भी यही मानना। कहोगे तुम कि कनेर का पेड़ जहरीला होता है। मुझे वह दलील ठीक नहीं लगती। मेरी बात तुम मानना। रानी थी अप्सरा सी सुन्दर। अप्सरा वह जरूर बनी होगी। इसीलिए उसके घर वाले, हर साल उसकी मौत वाली सुबह को अच्छी रंगीन घघरी और चोली मन्दिर में ले जाकर चढ़ा आते हैं।

रानी के पीछे तुमको नहीं बहकाऊँगा। रानी यह सुनाने आयी थी कि गाँव में हैजा हो गया है। गाँव का एक लड़का रात भर के कै और दस्तों के बाद अब स्वर्ग की सीढ़ी पार कर रहा था। हम सब वहाँ पहुँचे। उसकी माँ रो रही थी। वह चुपचाप सोया था। हाथ पाँव निपट ठण्डे थे। जरा दिल में गरमी और कुछ धुकधुकी बाकी थी।

उस दोपहर की गरमी में नंगे सिर-पाँव, बनिआयन के नीचे धोती का तहबन्द लगाये ही भाई साहब और मैं कस्बे के डाक्टर के पास पहुँचे। डाक्टर ने काफी लेक्चर दिया। साथ न आ, खुद हमें सावधान रहने की हिदायत की। लड़का मर गया। भाई साहब की गोदी में वह खूब सोया पड़ा था।

ठीक कह रहा हूँ। सुना, पहले दिन संध्या को जब वह अपने दोस्त के साथ खेतों से लौट रहा था, कुछ अँधियारा हो आया। तब ही उसने देखा कि—दूर अन्धकार में एक सुन्दर स्त्री, लाल कपड़े पहने, उसे अपने पास बुला रही है। वह हैजा की देवी थी। तुम कहोगे, यह सरासर झूठ है। भला, वकालत पढ़ कर और तुमने सीखा ही क्या है? तुम्हारे घर पर तो हर एक बात पर कानूनी दफा चलती है। लेकिन मैंने अपने पहाड़ों में अक्सर दूर-दूर किलकारियाँ सुनी हैं। उन किलकारियों के बीच, उल्लू जब घू-घू-घू करता है, तब मैं सोचता हूँ कि जिन्दगी में अकेला रहना साहस का काम है।

मेरा अपना पहाड़ बहुत अच्छा है। वह मुझे खूब भाता है। तुम्हारा मकान नीचे घाटी में होने से मुझे जँचा नहीं। इधर-उधर कहीं नजर नहीं टिकती है। मेरा मकान उसकी अवहेलना नहीं करता। थक कर अक्सर सोचता हूँ, तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ। वहाँ एक आकर्षण है। तुमको गृहस्थ देखकर डर क्यों जाता हूँ। क्या तुम्हारी बीबी को नहीं जानता? मैं फिर अपने को ठग रहा हूँ। तुम्हारे समीप कुछ और है। तुम्हारी माँ के पास रहूँगा। उसीसे बातें करूँगा। उनका कहना था—फिर जरूर आना। जैसे कि मैं 'अहसान' बनकर तुम्हारे पास कुछ दिन टिका हूँ। तुम्हारी माँ फिर बोली थीं—'तुम बड़े हो, भला गरीब घर किसे भाता है!'

गरीब घर और मैं बड़ा!

चाय के साथ मुझे आलू की पकौड़ियाँ भली लगती हैं। तुमने पहले

ही अपनी माँ को बता कर तैयार कर दिया था। जैसे कि एक अरसे से वह मुझे जानती हों। मेरी एक-एक खाने की रुचि को वह पहचानती थीं। तुमसे मुझे वास्ता नहीं। तुम्हारी माँ के पास रहूँगा। तब मुझे कितनी ही झंझटों से बरी समझो। कुछ मुसीबतें हल हो जावेंगी।

फिर अपना यह दफ्तर, यहाँ के बाबू, वातावरण और मेरी अपनी दिनचर्या :—

सुबह उठता हूँ तो सात बज जाते हैं। जल्दी-जल्दी शेव कर, चाय के दो प्याले और टोस्ट डकार, साइकिल पर ऑफिस चल देता हूँ। दिन को खाना खाने की तबीयत नहीं करती। लौटकर कुछ देर टहल पलंग पर सो रहता हूँ। दिन कोई खास बड़ा नहीं लगता। अपनी मुफलिसी तीन तारीख के बाद धरना दे देती है। तब 'उधार' से जरूरतें पूरी होती हैं। आज यह साहस नहीं है कि अपने शरीर और आत्मा के लिए तुम्हारे आगे हाथ पसारूँ। जैसे अक्सर कालेज के जमाने में कहता था—'अभी फीस नहीं दी!' तुमने कभी मना नहीं किया। पैसा पास न होना ठीक लगता है। नहीं तो वह बेकार खर्च हो जाता है। इधर दिल नहीं लगता है। कब और कहाँ ऑफिस छोड़-छाड़ कर चल दूँ—अभी कुछ सोचा नहीं है।

एक पहेली सी नारी पास आकर पुकारती है, 'आओ!'

पास जाता हूँ, कोई दिल में कहता है—छी! छी!! छी!!! यह क्या?

तुमसे बिना कहे नहीं मानूँगा। मैंने तुमसे एक दिन पूछा न था, उसके बारे में राय देना?'

तुम चुप रह गये थे।

'मुझे एक दिन उसके आँचल में रहना है।'

'वेश्या के!' तुम चौंक पड़े थे।

सावधानी से मैंने कहा था, 'शायद।'

'वह गलत होगा। मैं दावे से कहता हूँ।'

तुम्हारा दावा! काश कि मैं उसे निभा सकता। वह सही होता। दुरुस्त लगता!

माया सुन्दर है। अपने बालों को क्लिप से गूँथ कर रखती है। मुँह गोल है। माथे पर सिन्दूर लगाती है। होठों को पान से रँगती है। हाथ पर काली-सुफेद काँच की कई-कई चूड़ियाँ पहनती है। है न ठीक सी नाइका!

माया एक दिन बोली, 'मुझे वैसी ही साड़ी लाना, जैसी श्यामा की है। वही मूँगिया रंग वाली!'

'फिर कभी ला दूँगा।'

'नहीं कल ही। बहाना ठीक नहीं है।"

'कुछ सोचती भी हो।'

'हाँ, मैं समझ गयी।'

'क्या?'

'तुमको देहरादून जाना है न!'

'देहरादून!'

'तुम ही तो कहते थे वहीं शादी करूँगा।'

'वह तो तुझे बहकाया था।'

'बहकाया!'

'हाँ, माया।'

मैं भावना में बहता हुआ अपने को पकड़ नहीं पाता हूँ। मजाक करना नहीं आता। न जानता हूँ कि नारी का व्यवहार क्या होता है। वह पुरुष से कैसा बदला चाहती है। उसकी क्या माँग है? मजाक करने जब झूठ बोलता हूँ, माया पकड़ लेती है। उसके बाद

कैसे आगे बोलूँ।

माया एक वेश्या है। इसी माया ने एक दिन, अपने हाथों की सारी चूड़ियाँ गुस्से में एक एक कर तोड़ फर्श पर बखेर दीं। समझाया तो वह बोली, 'दूसरे की दी चीजों के प्रति मेरा मजाक उड़ा, मेरी मजबूरी को मजबूरी साबित कर दोगे; धन्य है तुम्हारे स्वार्थ को! अब इनको न पहनूँगी। कल तुम चार चूड़ियाँ ले आना।'

मैं आज तक उसके लिए चूड़ियाँ नहीं ला सका। उसके हाथ खाली हैं। न मैं चूड़ियाँ दूँगा, न वह खुद पहनेगी। काँच की वे चूड़ियाँ खन-खन-खन करती हुई जब फर्श पर बज उठी थीं, तब ही मैंने सोचा था—क्या कभी माया अपने को समझ सकेगी?

तुमसे कहना भूल गया। एक दार्शनिक से पिछले साल पाला पड़ा था। उस दार्शनिक दोस्त की जिन्दगी के अध्याय बड़े मजे के हैं। जरा कहीं अफसोस नहीं होता। बड़े हँसमुख, बिल्कुल बेतकल्लुफ, खुश-मिजाज, दुनिया भर से दोस्ताना, बादशाह तबियत के! किन्तु बीबी घर पर बीमार, दवा को एक पैसा नहीं। आधी रात, 'कैलेरेट' की बोतल दबाए मेरे पास आये, कहा, 'चलो'।

मैं समझा कि खात्मा हो गया है।

'नहीं यार, वह खूब है।' कह, ओवरकोट खूँटी से निकाल कर मुझे सौंपा। उनके साथ चला आया। दोस्त उन दिनों शहर की नामी तवायफ हुस्नबानू से 'भारतीय-सभ्यता के विकास' का सबक ले रहे थे।

बड़ी अदा थी उस मुस्लिम युवती में। जब उसने वह लाल-लाल रंग गिलासों में ढाल कर पीने को सौंपा, पीकर लगा कि आँखें अब पूर्ण खिल उठी हैं। मैं उसके चरणों में लोटता हुआ बोला, 'देवी, तुम कौन लोक की अप्सरा हो?'

वह हँस दी।

तुम पास होते तो वह हँसी तुमको मोह लेती। पिछले शनिवार को कर्जा न चुका सकने की वजह से दोस्त जेल भेज दिये गये। न हुस्नबानू ने साथ दिया, न कैलेरेट ने !

जब मैंने माया से यह सब कहा तो वह सारी रात रोती रही। कहा उसने, 'सब एक से नहीं होते।'

मुझे बात बढ़ानी नहीं थी।

वह बोली, 'तुम हमेशा एक सी बात क्यों सोचते हो ?'

'जेब खाली रहती है न।'

'मुझे लाचार न किया करो।'

यह माया एक पहेली है। परसों साँझ को आफिस से लौट कर देखा, माया पलंग पर बैठी थी। मैं उलझन में बोला, 'माया !'

माया फालसा रंग की साड़ी में थी।

मैंने कहा, 'माया, यह तुम्हारी ठीक हरकत नहीं। दुनिया से डरना सीखना पड़ेगा।'

माया रो दी। जैसे उसकी स्वतन्त्रता पर दुनिया को कुछ कहने का हक नहीं है। वह सब कुछ ठीक ही करती है।

इतना कह-सुन, जानता हूँ कि तुम मेरे इस पतन पर हँस नहीं सकते हो। वैसे मैं घृणा कभी अस्वीकार नहीं करता। तुम्हारा तिरस्कार सह लूँगा। आज मुझे अपना और अपनी दुनिया का दुःख नहीं। न यही चाहता हूँ कि तुम मेरी बात की गाँठ बना कर अपनी गृहस्थी में उदास जाओ। वैसे जानता ही हूँ कि तुम चिठ्ठी पढ़ोगे। इसे नहीं ठुकरावोगे। इसे पढ़ने के लिए एकान्त तुमको मिल जावेगा।

भई, वकालत क्या खराब है ? घर के पास हो, बीबी-बच्चे हैं। दोस्तों से घिरे रहते हो। मेरी तरह नौकर पर गृहस्थी टिकी रहती, तो

छठी का दूध याद हो आता । यहाँ वही बमप्लाट रोटी और गारियाँ मिली दाल मुयस्सर है । उसे रदोबदल का ख्याल कम रहता है ।

फिर झूठ ! एक दिन माया ने खाना बनाया । पहले खूब सारा घी पतेली पर गरम किया । फिर धुले चावल तले । अनजान तो है ही, घी ज्यादा देखकर जब कुछ नहीं सूझा तो चटपट बूरा डाल दिया । जब न खाया गया, तब हँस पड़ी । बोली, 'कभी खाना बनाया थोड़े ही था ।'

लेकिन ?

···मुझे मौली सा सही लड़का अपने जीवन में नहीं मिला था । जो बात कहता, करता और सोचता—वह निराली होती । बिल्कुल साफ, जो कुछ जितना कहना होता, उसमें कुछ न छुपा कर, उस पर वह कोई राय सुन लेने का आदी नहीं था । विचित्र लड़का ! सारी दुनिया को जैसे एक खिलवाड़ समझ, हमेशा आकर कहता—देखो मैंने ठीक बात कही थी ।

एक दिन आकर बोला, 'एक बात पूछूँ ? कुछ अधिक दलील तो नहीं करोगे ?'

"क्या ?"

"देखो तुम गायत्री के बारे में क्या जानते हो ?"

"गायत्री के बारे में !" मैंने आंखें फाड़ कर उसे देखते हुए दुहराया ।

"हाँ, उसी के बारे में । लोग कहते हैं, उसका चरित्र ठीक नहीं है ।"

"मैं इस पर क्या राय दूँ ?"

"अच्छा तो सुनो, गायत्री के बारे में लोगों की गलत धारणा है । पुरुष दल स्त्री को दुनिया की आँखों में इतना गिरा देना चाहता है कि वह अपने को छुपा कर अलग खड़ी नहीं रह सकती है ।"

"क्या कहा तूने ?"

"गायत्री के चरित्र से एकाएक अविश्वास करना भूल होगी।"

"आखिर क्या बात है?"

"उस दिन तुम तो क्लब में थे न? तुम्हें याद है। लोगों ने बेकार क्या-क्या नहीं कहा था? वे कितनी दिलचस्पी लेते हैं। अड़ोस-पड़ोस, मुहल्ले का आदर क्या उनको नहीं करना है? उस लड़की का जीवन.........!"

"जीवन!"

"मैं उसे नीची सतह पर खड़ा नहीं देखता। समझदार मानता हूँ। माना कि उसने कुछ चिट्ठियाँ भावुकता में किसी युवक को लिखी हैं। आजीवन क्या वह उसी के लिए ठुकरा दी जावे?"

"तुम्हें कहना क्या है? तथ्य से बाहर सुनना फ़िलहाल बेकार होगा।"

"आज कुछ नहीं। फिर कभी कुछ आकर कह दूँगा।" कहकर मौली चला गया था।

आगे वह एक महीने तक नहीं दीख पड़ा। अगला कट गया, वह नहीं आया। फक्कड़, उस मनमौजी का ठिकाना कोई कहीं थोड़े ही था जो पूछताछ करके उसका पता पूछ पाता?

वह बरसात की एक रात आया था। दरवाजा खटखटा कर बोला, "भाई साहब!"

"कौन मौली?"

"खोलो-खोलो! उफ़, क्या पानी में डुबो दोगे?"

बाहर साँय-साँय हवा चल रही थी। चटखनी खोल कर देखा कि मौली चुपचाप छाता लगाये था। उसके साथ बरसाती ओढ़े, छाता ओढ़े, एक युवती थी।

मैं खड़ा-का खड़ा रह गया था। मौली ने कहना शुरू किया, "भाई

साहब, यह गायत्री जीजी हैं।" रुक पड़ा। कहा, "जीजी, भाई को प्रणाम नहीं किया तूने?"

गायत्री ने हाथ जोड़ कर सिर झुका लिया था। उस गायत्री को तभी पहले-पहल देखा था। मौली के इस कर्त्तव्य पर कुछ नहीं सोच सका। सोचता ही कब। भला मौली मौका देता! तब वह बेतकल्लुफी से बोला, "जीजी, बैठ जाओ!"

गायत्री बैठ गई। जैसे मौली की सब बातें वह मान्य मान लेगी। मौली ने किलड़ी पर से तौलिया उठाया। दूसरे कमरे में जाकर मेरा सन्दूक खोल, धुली रेशम की कमीज ले आया। गायत्री को देते हुए बोला, "लो बदल लो। इसमें लाज क्या? ऐसे भाई के आगे आज तक मैं कभी डरा कि आज ही डर लगे!"

गायत्री ने अपने बाल फैलाए। पास के छोटे कमरे में जाकर कपड़े बदल आयी। मौली ने गरम चादर उठा, उसे सौंपते कहा, "ठिठरो नहीं।"

गायत्री चादर का घोंसला बना, उसमें दुबकी छुप गयी।

मौली चाय बनाकर ले आया। आकर पीने को सौंपते हुए बोला, "जानते हो, इतने दिनों कहाँ रहा? जीजी माफ करना!"

गायत्री की भीगी पलकें देखकर बोला, "अब तुमको और रोना नहीं लिखा है, जीजी!"

एक साँस में बोलने लगा, "इस जीजी को दुनिया की आँखों से हटा, तुम्हें सौंपने आया हूँ। यह जानकर कि तुम ठुकराओगे नहीं। मेरी बात नहीं काटोगे। मैं जानता था कि कलंक से पुती इस जीजी को तुम्हारे चरणों में जगह मिलेगी।"

"मौली!" असमंजस में मेरे मुँह से निकला।

"तुम ना कर दोगे; उफ इस दुनिया में कितना अविश्वास है। तुम अपने समाज के मंच पर बैठे रहना, हमें अब जाना है। उठो

जीजी, हम भाई-बहन को दुनिया का सफर अकेले ही तय करना बदा है। पहन लो अपने कपड़े। जिस पर आज तक विश्वास किया, वही ठुकरा देगा! अब एक मिनट दूसरे का आसरा ताकना ठीक नहीं।"

सच ही गायत्री ने भीगे कपड़े बदल लिये थे। अब तक बाहर खूब पानी बरस रहा था। हवा के तेज झोंके उठते-उठते जाते थे। मौली ने दरवाजा खोल लिया। कहा, "आओ जीजी!" दोनों बाहर चले गये।

उस बरसते पानी में मौली को ठुकराने की हिम्मत मुझ में नहीं थी। दौड़ा-दौड़ा उनको ले आया। आज उसकी जीजी गायत्री साथ है।

गायत्री को मुझे सौंपकर मौली चला गया था। उसने यह एक अहसान किया। मेरे स्वभाव को जाँचकर, वह न जाने कैसे समझ गया था कि गायत्री मेरी गृहस्थी के लिये उपयुक्त है। उसकी इस बुद्धि पर आश्चर्य में पड़ जाता हूँ।

किसी की पकड़ में न आने वाला मौली चला गया था। उसने गायत्री को एक चिट्ठी लिखी थी:

जीजी मेरी,

यह ठीक सा ठिकाना तुम्हारे लिये मैंने चुना था। वहीं तुमको सौंप दिया। जिसका मुझे घमंड था, उसीके नजदीक तुमको देख, नहीं चाहता कि अब तुम्हारे लगाव में साथ रहूँ। वह मिथ्या होगा।

मनुष्य देरी से पहचाना जाता है। आज का आदमी चतुरता और चालाकी से अपने को किसी के आगे प्रकट नहीं होने देता है। फिर इन इतने व्यक्तियों की बड़ी आबादी के बीच कोई अकेला कैसे खड़ा रह सकता है। इसी लिए सहारा चाहिए। उस एक मात्र सहारे के बीच तुम को खड़ा करके, अब मुझे खुशी है। अब तुम भी उसे पहचान लोगी जो मुझसे रोज़ कहता था—यहीं तू रह जा। भला मुझे इतना

वक्त कहाँ? इस इतनी बड़ी दुनिया में ढेर से काम हैं। मेरे पास तुम्हारा काम निपटा कर भी मिनट भर सुस्ताने का वक्त नहीं है।

तुम कहाँ जा रही थीं? जानता हूँ, उसी से आश्रय मांग लेने, जो तुमको धोखा ही देता जा रहा था। वह तुमको छलकर भाग गया। बरसते पानी में उसकी टेक पकड़कर तुमने अपने को समर्पित करने की ठहरायी थी। अपने मकान की पिछली खिड़की खोल, कूद, जब तुम अपने पिता का घर सर्वदा के लिए, निराश हो छोड़ आयीं; वह सब जब अपनी समझ से तोलता हूँ, तो सन्न रह जाता हूँ।

वह तुम्हें आश्रय देता; ऐसी उदारता दुनिया से उठ गयी है। तब तो तुम्हारे मन में बात आयी होगी कि दुनिया पाँव के नीचे फट, आंधी-पानी में सीता की भांति तुमको जगह दे सकती। तुम पेड़ के नीचे मुंडेरी पर बेसुध पड़ी थीं। मैंने तभी तुमको देखकर जाना कि तुम्हें मेरी मदद चाहिए। मैं पहचान गया था कि तुम में सामर्थ्य है कि मेरी जीजी कहला, दुनिया में आंखें उठा कर चल सको। मैंने समाज के बीच तुम को खड़ा करने के लिए जगह ढूँढ़ी। अपने कर्तव्य में निभ गया।

गायत्री जीजी, न जाने मैंने तुम्हारी कितनी बातें, सुनीं। सुनी और अपने तक सँवारे रहा। उनको कहकर हँस-हँस उन पर राय कायम करने वाले दल की दलील हमेशा सुनता रहा हूँ। एक इच्छा यह है कि कभी तुम्हारी खुद निजी राय 'तुम पर' सुनूँ। उससे शायद कोई फायदा नहीं। इसीलिए मैंने उसे मुलतबी कर दिया है। एक मात्र पुरुष, जिस पर तुम्हारा सारा सहारा था, जब वही मात्र अंधकार में तुम्हें छोड़ गया, तब तुमने क्या सोचा होगा?

पर नहीं, अपने पुरुषत्व के बल पर ऊँचा उठ, तुम्हारी नारी अनुभूतियों को जगा, नहीं चाहता कि मैं तुम्हारे आगे एक ऊँची सतह पर खड़ा होऊँ। मुझे नीचे खड़े होने की आदत है। उसे बेकार बिगाड़ना नहीं चाहता। मैं अपने प्रति यह अन्याय नहीं देख सकूँगा। मुझसे यह

होगा भी नहीं।

तुमको ठीक सा ठिकाना चाहिए था, वह मिल गया। मुझे कहीं जम कर नहीं रहना है। मैं बन्धन और कायदे-कानून का कायल नहीं। वैसे कभी भाई के आगे खड़ा हो सकता हूँ।

उसे भी माफ कर देना। तुम उस अभागे पर गुस्सा नहीं होगी। आज दुनिया में वैसे आदमियों की तादाद ज्यादा है। मैं उनको ढूँढ़ कर ठीक कर लूँगा। उनसे वास्ता न रख कर उनके बीच चल; उनको पहचान लेना चाहता हूँ कि वे किस तत्व के बने हैं? यही सवाल कभी-कभी अपने से पूछता हूँ।

गायत्री ने मुझे चिठ्ठी दी थी। जब मैं पढ़ चुका, तब वह बोली, "मौली क्या लिखता है? यही सीख कर अब उसे दुनिया भर को लुभाना बाकी है।"

"गायत्री!"

गायत्री के दिल की बड़ी ख्वाहिश थी कि मौली दुनिया में आदमियों की तरह चले—दुनियादार बने। बहू ढूँढ़, सँवार, गायत्री अपने हाथों उसे सौंपे। मौली ने गायत्री को जो सीख दी थी, उसे जिस रास्ते पर डाला था, वह भी अपना कर्तव्य निभा लेना चाहती थी।

"क्या उसे तुम नहीं लिख सकते हो कि यहाँ आ जाए।" एक भारी चुप्पी को भेदकर गायत्री बोली।

"नहीं, यही तो वह कह गया था कि बुलाने पर नहीं आवेगा। वह अपना कहा नहीं काटता। वैसे एक दिन, कभी किसी वक्त वह आकर कह सकता है—देखो मैं आ गया। तुम मेरा इन्तजार करते-करते थक तो नहीं गये थे।"

उस दिन साँझ को एकाएक मौली आया। कोर्ट से लौट

कर बैठा था। गायत्री बच्चे के साथ घूमने चली गयी थी।

"भाई साहब, देखो माया आयी है।"

"माया!" शब्द मन-ही-मन घूम फिर कर, दिल को छू बैठा।

"तुम्हारे पास कब-कब आना हो। तुम तैयार रहा करो!"

मैं वैसे पहचानी माया को मौली से ज्यादा समझ कर बोल बैठा, "बैठो माया।" फिर रुक कर कहा, "मौली, हम सब तेरा इन्तजार करते-करते थक गये।"

"बातें रहने दो। गायत्री जीजी से कह दूँ कि माया आयी है।" कहता मौली अन्दर आने को था कि मैं टोक कर बोला "वह अभी घूमने चली गयी है।"

"घूमने!" मौली स्थिर खड़ा हो बोला।

माया अब तक खड़ी ही थी! मौली सँभल कर बोला, नमस्ते भी नहीं किया तूने? भाई साहब के पाँव की धूल का टीका माथे पर लगाले। चाहता हूँ कि डिबिया में सब धूल जमा कर रख लूँ। दुनिया को वंचित रख, रोज खुद टीका लगाया करूँ। कितना स्वार्थी हूँ मैं भाई साहब।"

माया फिर भी खड़ी थी। मैंने सोचा कि इस मौली को इतनी बड़ी दुनिया को समझ लेने की अक्ल कहाँ से आयी। बचपन में तो पेड़ों-पेड़ों पर कूद, इधर-उधर लड़कों से झगड़ा करना ही इसका काम था। या कभी किसी बाग से आम, अमरूद, ककड़ी, सेब जहाँ जो मिल जाय लूट-खसोट कर बाँटना ही उसने सीखा था। पकड़े जाने पर खुद पिट, उतने भरे पेटों की हिफाजत करता था। तब न सोचा था कि एक दिन वह इस तरह खड़ा होगा। कहेगा दुनिया से—अचल ही रहो। मुझे चलने दो। मुझे चलना है। पीछे फिर कर नहीं देखूँगा।

मौली ने असमंजस में कहा, "हम आ रहे हैं, भाई साहब! वक्त नहीं। अभी मोटर से जाना है। जीजी से कहना—मौली आया था।

और यह माया, इसे पहचान लो। आज इसे आश्रय की कमी नहीं वह कभी एक दिन मेरे बाद भी आये तो जगह दे देना।"

"मौली!"

"मैं रुक नहीं सकता। खुद माया को जल्दी है। इसे जहाँ से लाया हूँ, वहीं पहुँचाने का वादा है। मैंने अपना वचन कभी काटा? उसका एक मूल्य है— वह मैं हूँ।"

"माया!" मैंने माया की ओर देखकर कहा। जिसे मौली ने पत्र में एक वेश्या सुझाया था। वह वैसी नहीं लगती थी। खादी की सुफेद साड़ी पहने थी।

बोली माया, "एक दिन तुम्हारे पास आऊँगी आज मेरे पास सब कुछ है। मैं बड़ी स्वार्थिन हूँ। वह स्वार्थ नहीं छूटता। यदि सब कुछ खो जाय, तब ही.........!"

"माया!" आगे मुझसे कुछ कहा नहीं गया था।

"फिलहाल तुम मुझसे यही क्यों चाहते हो? तुम जो उनके गुरु हो, भाई हो, बड़े हो—जिनके बल और बुद्धि का उनको घमंड है, तुम ही जब नहीं कह सकते हो— रुक जाओ; फिर मैं......?"

"मौली, गायत्री ने तुम्हें रोक रखने के कहा था, वह आकर क्या कहेगी? मेरी जिम्मेदारी खत्म नहीं होती लगती है।"

"वाह भाई साहब!" मौली ने बात काटी, "खूब रही। जीजी कुछ नहीं कहेंगी। तुम्हारे साथ जो रहा, क्या कभी वह आदमी नहीं बना है! चलो माया; अरे बुत-सी क्या खड़ी है। जल्दी ले ले भाई साहब के पाँव की धूल! अच्छा भाई साहब, फिर देखो कब मुलाकात हो जाय।"

पाँवों में झुककर कहा, "पाँव अलग हटा रहे हो। नहीं-नहीं, भाई साहब—मुझे और क्या माँगना है।"

इससे पहले कि कुछ कहूँ, माया और मौली चले गये थे। माया

चुपचाप पीछे बढ़ती लगी। उस माया को देखकर बड़ी तसल्ली हुई। सोचा दोनों साथ रहते, तब ठीक होता। उस संध्या को माया-मौली ऐसे आये मानो कि इकरारनामा लिखाने आये हों।

गायत्री लौटकर बोली, "मौली आया था?"

"हाँ!"

"जाती मोटर में उसे देखा। पास माया बैठी थी, मुझे ऐसा लगा।"

"आया था, तुझे और मुझे माया को पहचनवाने के लिये। रुका नहीं। दोनों को देरी हो रही थी।"

"शायद अब वे एक दूसरे को थाम लें।"

"गलत धारणा है।"

"तुम भी यही सोचते हो, नहीं जानती थी।"

"उसके बारे में कोई राय बनानी अनुचित बात होगी। उसे अब भी पहचान लेना है। वह कब तक भागा-भागा फिरेगा?"

इतने बड़े फैले मैदान पर बैठा हूँ। सामने लकड़ी-घास के गट्ठे सिर पर धरे हुई पहाड़ी रमणियाँ छोटी-छोटी डोंगियों में खड़ी हैं? बड़ी निर्भीक। हिलती-डुलती डोंगी तेज प्रवाह के हिलोरों से खेलती है। इनको रब्त पड़ा है। हँसी रही हैं। कुछ भय नहीं मालूम होता।

और यह चौड़ा मैदान। इसी मैदान में हमने रेत पर फुटबाल के कितने मैच नहीं खेले! जब कभी मौली अपने गाँव बुलाता, तभी हमेशा पहले मैच ठीक-ठीक कर लेता था। आम की फसल में गंगा के किनारे पत्थरों व छोटी-छोटी गारियों से छोटा घेरा बना; खेल के बाद वहाँ जमा किये आम चूसते थे। गुठलियों को इधर-उधर फेंक दिया करते थे। अब न जाने तब के सब साथी कहाँ होवेंगे?

फिर एक दूसरे को देखने या पूछताछ करने का कोई सवाल ही नहीं उठा है।

पास ही टीले की झाड़ियों के बीच छुपा हुआ मौली का गाँव है। ऊँचे पीपल के पेड़ के पास बेलों का खेत है। दूसरी ओर नीचे सड़क पर उतरने के लिए पगडंडी है।

और यह माया अभी-अभी अपने हाथ की सारी चूड़ियाँ तोड़-कर इधर-उधर उस काली सुफेद राख में फैला गयी है; वे भी चमकती नहीं हैं। उनका रंग जिन्दगी के आखिरी दिनों की तरह फीका लगता है।

देख रहा हूँ, उस चौड़ी सरकारी सड़क पर, गायें जंगल से लौट आयी हैं। मौली और मैंने कई बार सुबह उठ कर, खूँटों से गाय खोल, उनको चरवाहे के सुपुर्द किया था। उस गाय की याद जो अलग हटाए नहीं हटती, जो इधर-उधर भाग कर हमें परेशान किया करती थी। मौली ही उसे पकड़ कर बाँध पाता था।

शिवजी के मन्दिर के घन्टे कुछ साथ देते नहीं लगते। गंगा से लौटती, सिर पर पानी की गगरियाँ धरी रमणियाँ भी दिलासा नहीं देतीं कि उस गांव में हमारे साथ चलो। हम परदेशी नहीं हैं। फिर वह गांव पास बुलाता नहीं लगता है।

मौली के अक्षर ही साथ देते हैं। चिट्ठी में लिखे अक्षरः—

प्यारे भाई,

यहाँ भी आया। कल मनुष्य कहाँ चला जावेगा, यह कोई थोड़े ही जानता है। इतने दिनों से खत नहीं लिखा, तुम यही उलाहना देते। भला मैं उसे अपने पर लागू होने दूँगा। इसी लिये तो लिख रहा हूँ। अब तुम क्या सवाल पूछ सकते हो?

तुम्हारे पास से लौट कर, माया को अपने पास नहीं रखा। यही जान कर कि मुझे उसे पास नहीं रखना है। माया के साथ सारी

ज़िन्दगी कट जाती, ठीक होता। लेकिन मैं माया के साथ रहूँ, यह गलत लगा। गलती थी माया की। एक दिन आधी-रात को पूरे लिबास में मुजरे से लौट कर आभूषणों से लदी, मेरे कमरे का दरवाजा हल्के से ढकेल जब वह भीतर आयी। जानते हो कि क्या सोच रहा था मैं ? यही कि माया के पास ज्यादा नहीं रहूँगा। कुछ दिन अपने थके शरीर को आराम दे, आगे बढ़ूँगा।

माया का वह सौन्दर्य ! लगा, माया एक दिन अपने काबू में कर लेगी। तब मुझे अलग होने का मौका नहीं मिलेगा। मैं खुद नहीं जानता कि यह खयाल मन में क्यों आया। न मैंने कभी जान लेने की फिक्र ही की। मुझे ऐसी तवालतों को जोड़ना पसन्द नहीं।

मैं उसी रात को सोती हुई माया का घर हमेशा के लिये छोड़कर चला आया। वह अजीब पहलू था। मुझे समस्याएँ नहीं गढ़नी हैं। तब से ही मारा-मारा फिरा और एक दिन इस कस्बे के अस्पताल में कोई उठा लाया।

कहते हैं लोग कि जमींदार की लड़की ससुराल से मायके लौट रही थी। दया हो आयी,. दवा का इन्तजाम कर दिया। 'राशन-पानी' पूरा-पूरा मिल जाता है, यह दया......!

उसका नाम शीला है। कहते-कहते थक गई है कि उसके घर अपाहिज की तरह पड़ा रहूँ और उसकी तथा उस घर की परेशानी बढ़ा दूँ। इससे तो यह खैराती अस्पताल ही ठीक लगता है।

किसका नाम बताऊँ—कौन है मेरा ? जब वह अकेले बड़ी देर तक, अस्पताल में लोहे की कुर्सी पर बैठ, मुझे छेद-छेद कर पूछने लगी थी तो मैंने एक दिन कहा, "मुझे अभी मरना नहीं है। और आप बेकार मुझे कुरेदती हैं। भला, इस तरह अकेले में आपकी छाँह पा कृतार्थ न होऊँ, तो धिक्कार है मुझे ? मेरा कहीं कोई मोह नहीं।"

वह मानी थोड़े ही। अन्त में मैंने मिमांसा कर कह दिया, "यह

कोई अड़चन नहीं है। दुनिया में जिन-जिन से वास्ता पड़ा, वे सब कहते थे—दुःख में हमें याद करना। दुःख क्या है, मालूम नहीं पड़ा। दुःख को जाना नहीं कि उसकी क्या परिभाषा होगी? एक दिन जब दुःख पड़ेगा, तब सबको बुलाकर कह दूँगा, ठीक-ठीक—अब दुःख पड़ा है, आज।"

लेकिन इस बीच काफी दुनिया देखी, जमाना देखा। वह सब याद नहीं रखता। इतना ही कहना है, दुनिया मुझे बुरी नहीं लगी। मैं चुपचाप चला, कहीं रुकावट नहीं पड़ी। आज इस अस्पताल में चैन से सोया रहता हूँ। किन्तु कल रात नींद टूटी। लगा कि मेरे गाल पर कुछ आँसू की गरम बूंदे टपकी हैं। आँखें खोलीं तो देखा, शीला अपने आँचल से आँसू पोंछ रही थी।

मैं बोला, "शीला!" आगे कुछ नहीं कह सका।

शीला चुप सिर झुकाए थी।

कहा मैंने, "शीला जाओ न, इतनी रात हो आई है। नौकर जगा ही है। जाओ तुम!"

शीला फिर भी नहीं उठी।

तब मैं बोला, "मुझे अपनी फिक्र नहीं। क्यों तुम अपना मोह मुझ पर बखेर, मुझे अपने में समेट लेना चाहती हो?"

शीला के दिल पर ठेस लगी। वह जैसे अपने आवेग को रोक न सकने पर, धक्का खा बाहर चली गयी। कुछ देर बाद लौटकर आयी और फिर बैठ गयी।

"बेकार तुम परेशान होती हो।"

"मौली बाबू! वह बोली और रुक पड़ी। कुछ क्षण ठहर कर कहने लगी, 'जी करता है, तुम्हारे चरणों में बैठ कर......।"

"नहीं-नहीं।" मैंने बात काटी, "कभी तुम गोविन्द भाई को पहचानना, उनको देखना जरूर। अच्छे होते ही, मैं तुमको अपने

साथ वहाँ ले चलूँगा। आज रहने दो अब वह धन्धा। यह व्यवस्था गायत्री जीजी खूब जानती हैं। उसकी जानकारी में तुम अपने को अनजान, अलग नहीं पाओगी।"

मैं घबड़ा उठा था। क्या इस शीला के आगे अपने को एक दिन खोलकर रख दूँगा। कहूँगा—मेरे पास दुनिया की कुछ अमूल्य अपनी चीजें थीं, जिनको चाहता तो हमेशा साथ रखता और वे साथ रहतीं, पर मैं वैसा न था। फरेब मैंने सीखा ही नहीं था।

आलस्य घेरे रहता है। अस्पताल के कमरे से शीला चाहती है, अपने मकान का दरवाजा खोल, एक सुन्दर कमरे में मुझे टिका कर वही बाँध लेना। फिर मेरे मन का ताला तोड़, तुम सब को वहाँ इकट्ठा करने का उसका इरादा है। एक ऐसी लापरवाही साथ है, दवा पीने को मन नहीं करता। इन मात्रा लगी शीशियों से मन ज्यादा ऊब उठा है। दिन को अस्पताल के बरामदे में चुपचाप लेटा रहता हूँ। कुछ सोच नहीं सकता। अपने से खुद अवहेलना कर लेने की ठहरायी है। इन मात्रा लगी शीशियों और इन्जेक्शन के ट्यूबों से क्या बाकी रहा आबदाना बढ़ जाता है? यही होता, तब क्यों न उस डाक्टर ने जो हमें ठुकरा कहता रहा—हैजे के मरीज की खबर बारह घण्टे के बाद दे, डॉक्टर को ले जाकर, बदनाम करवाना चाहते हो? हमारे पेशे को धक्का लगेगा। क्या वह चलकर कुछ इन्जेक्शन न लगा सकता था? उस लड़के की माँ की वही एक हवस बाकी रही थी। आज भी वह दुनिया भर में कहती है—उससे लड़के को बिना डाक्टर के इलाज मरना लिखा था।

परहेज पर शीला से लड़ाई होती है। यह लड़की इतना झगड़ना जानती होगी, मुझे मालूम नहीं था। परसों की बात है। जरूरतों को पहचान कर शीला कुछ रेजगारी हमेशा मेरे तकियों के नीचे रख जाती है। दिन को मैं बाहर बरांडे में धूप सेक रहा था। शीला

का नौकर, एक कोने में चिलमची साफ करने में लगा हुआ था । बीच-बीच में गीत गुनगुनाता जाता । वह हमारे ही पहाड़ का है। अक्सर पहाड़ी गीत गाता है। शीला उन गीतों को चाव से सुनती है। मतलब चाहे खाक समझ में नहीं आता है। नौकर चिलमची माँजकर, मेरे पास आ पाँव दबाने लगा। सामने ही बाग़ है। वहाँ से कुछ नींबू मँगवा कर खा गया। मुझे खट्टा खूब भाता है। अपने मन को बेकार क्यों मारूँ ? बस उसी रात नौकर पर शीला खूब गुस्सा हुई। ऐसी हरकत पर निकाल देने की धमकी दी। नौकर के दम सूख गये। मालकिन की मेरे प्रति श्रद्धा देख, वह मुझे देखता रहा कि मैं कुछ कह उसे माफी दिला दूँ। तब ही मैं बोला, "मैं कसूरवार हूँ। आत्मा का तकाजा था उसे कैसे ठुकरा देता! यदि मैं कहता, तुम ही नींबू लाकर खिला दो, तो क्या अवहेलना बरत सकतीं ?"

शीला को कुछ क्या कहना था। खुली आँखें सूनी हो आयीं। कुछ ऐसी जगह खाली होती लगी कि मैं डर गया।

बोला मैं, "शीला, तुम चुप हो! चुप रहना सीखकर मुझे उबारने की फिक्र करना उचित नहीं। कहता हूँ, दुनिया को अनुचित साबित करने के लिये मैंने जन्म नहीं लिया है। अपनी बातें कहीं किसी से मेल न खावें तो मैं कसूरवार होकर भी अवज्ञा करना नहीं चाहता। इसीलिए......!"

बात काट कर कहा उसने, "अपने प्रति लापरवाही करके, मेरी जिम्मेदारी बढ़ा देते हो, नहीं जानते यह।"

"तुम्हारी जिम्मेदारी ?" मैंने हल्के दुहराया।

"तुमको नींबू खिला सकती हूँ जान कर, मेरी इस मजबूरी को बाँध कर तुम नहीं चलोगे। उस शस्त्र से एक दिन घायल करना सीखोगे, मुझे विश्वास नहीं आता ?"

मैं अपने को कुछ रोक कर बोला, "तुम नहीं जानती शीला,

उपचार मैंने नहीं सीखा। बचपन में सर्दी लग जाने पर जब लोग अपने बच्चों की हिफाजत करते हैं, तब ही मैं छुप कर, बाहर बरफ में खेलने चला जाता था। अपने उस बचाव को पिट कर भी नहीं सीखा। एक दिन प्रायमरी स्कूल में बाजी लग जाने पर कि धतूरे से आदमी को मरते देर नहीं लगती है। सिर्फ यह जान लेने के लिये कि मौत क्या है, मैंने खूब से धतूरे के बीज चबा लिए थे।"

"क्या कहते हो मौली बाबू ?" जैसे सारी पिछली पहचान को झूठी गिन वह सही अनुमान लगा लेना चाहती थी।

"और एक दिन गंगा में बहते तख्तों का बेड़ा बना कर जब पानी से खेल कर लेने का पहला सबक सीखा था, तब मेरे सब साथी भाग गये थे। मैं खुद अकेला धोतियों से बँधे उस बेड़े को पानी की धारा में ले गया था। मछुओं ने बचाया। मार नहीं पड़ी। सावधान सबने किया। आगे सरकारी मदरसे में पढ़ा—कोयला, गन्धक, शोरा मिला कर बारूद बनती है। हम तीन-चार दोस्तों ने भी तीनों को पीस, ढेर सारा बारूद बना कर अपनी जेबें भर ली थीं। धूप में कागज की एक लम्बी 'कोर' सी बनायी और दियासलाई से उसे सुलगाया। उस खेल में एक लड़के की जेब पर आग लग गई थी। उन दिनों मार खाकर भी नहीं सीखा कि कभी अपनी हिफाजत करूँगा। उन सब छोटे-छोटे खेलों के बाद बड़े-बड़े खेल खेलता रहा हूँ।"

शीला फिर कुरेद-कुरेद कर तुम्हारा पता पूछती रही। वह मेरी शिकायत तुमसे करना चाहती होगी। वह समझती है, तुम मुझे कुछ 'हुक्म' दे सकते हो। तब ही मैंने कह दिया, "तुम खुद मुझे क्यों नहीं रोक लेतीं ?"

"इतनी सामर्थ्य जमा कर पाती तो जीवन सफल हो जाता ?" कह, शीला आगे नहीं बोली। वह तकरार बढ़ाना नहीं जानती।

कई बार सोचा, इस अस्पताल की दुनिया में भाभी, लीला, गायत्री, माया और उन सबको जिनसे वास्ता पड़ा, जमा कर, चुपचाप एक दिन खिसक जाऊँ। लेकिन ....?

शीला कहती है, मेरे अच्छे होने पर, एक दिन जब वह ससुराल जावेगी तो मुझे बुलावेगी। क्या मैं वहाँ जाऊँगा?

मैंने यही कहा, 'कौन मुझे बुलाता है। कोई नहीं। जान कर नहीं बुलाते।"

"क्या तुम आओगे?" शीला ने गंभीर होकर, पूछ ही डाला।

"आज तक जब किसी ने नहीं बुलाया, तब ठीक एक दिन तुम्हारे बुलाने पर मैं कैसे चला आऊँगा? यह बात ठीक नहीं लगती।"

शीला मुरझा गयी थी।

'इस गंगा के ठन्डे पानी को छूकर अपनी अंजली भर जब प्यास बुझाने की सामर्थ्य चूक गयी, तब से भग पत्थर पर बैठा-का-बैठा हूँ। इस मैदान में बैठ कर जैसे मैंने एक बड़ा अरसा गँवा दिया है।

धीरे-धीरे रात पड़ जाने पर, जब सारी दुनिया अन्धकार में छुप जावेगी, तब यह गंगा का काला-काला रंग बदलता हुआ पानी क्या मुझे अपनी सतह में छुपावेगा नहीं? उस अन्धकार में कौन मुझे दुबकावेगा?

शीला न पहचानती थी, न सही। एक दिन आकर बोली, 'गोविन्द बाबू, तुम्हारे मौली को न बचा सकी!"

"क्या कहा शीला?" अवाक् मैं बोला।

"उठो मर्द हो तुम। देखो, उनका कहना मान कर यहाँ आई। तुमको खुद पहचानी हूँ। नहीं चाहते थे वह किसी दूर देश में रुल जाना। कहा था—जहाँ मैं एक लम्बे अरसे तक खेला, गोविन्द

भैया जानता है। मुझे उनको सौंप देना। फिर कहा था, "कभी एक दिन मौशी बहिन को साथ लाया था, अनजाने आज बहिन के साथ आया है।"

मौली के उस शरीर को जब देखा, तभी मन में बात उठी—माया कहाँ होगी ?

शीला ने सारी बात सुलझा दी, "माया आयी है, जानते हो क्यों ? घाट पर अपनी सारी चूड़ियाँ सौंपने। एक दिन गुस्सा कर, बात की अवहेलना उसने की थी। आज उस अपमान की.........!"

तभी माया ने आकर मेरे पाँव की धूल बटोर ली। बोली, "आज उस मकान और ऐश्वर्य को छोड़ आयी हूँ। जगह दोगे अपने चरणों में ?"

"दुत् पगली.......!" शीला उसे उठाती बोली।

...जिस घाट पर फुटबौल की बाजी में मौली हमेशा जीतता था, वहीं पास के मरघट पर वह आखिरी बाजी जीत गया। यह माया क्यों अपनी सारी रंगीन चूड़ियों को बखेर गयी है ? गायत्री के चरणों में बैठी रोती होगी।

शीला गम्भीर थी। कह कर—पूरी बात नहीं जान सके थे। कहा था, 'मेरे जीवन के बीच कभी एक दिन भी हँसने का ठीक-सा मौका नहीं पड़ा।'

—सुनसान रात्रि में, घना अँधियारा हो आया है। सामने दूर-दूर तक, गांवों के जलते चिरागों में, गंगा की बहती ठंडी हवा के साथ, जैसे मौली की जीत की मुस्कान पा जाता हूँ।

अकारण की व्याख्या ?

कुरूपता को सिद्धान्त मान लेने वाले व्यक्ति के लिए भले ही मेरे मन में लोभ नहीं हो; जब सुमेश ने बेडौल पत्थर के आकारों को माध्यम बना, मेरे जीवन में प्रवेश करना आरम्भ किया, मैं उसे अपेक्षित गिन, चुपचाप उसकी धारणाओं पर विचार करने लग गया था। सुमेश दलील करता हुआ कहता था—यह देख न—है समूचा पत्थर का नारी-रूप! और मैं उलझन में देखता कि वह काले पत्थर के सिवाय कुछ नहीं है। पत्थर को छेनी से काट-छांट कर हाथ-पांव, कान, नाक, आँखें आदि बनायी गयी थीं। ढले वक्षस्थल थे और बालों की लटों की घुंघराली पाँतियाँ थीं। उस चेहरे पर लावण्य कहीं नहीं था। नारीत्व को लक्षण गिन कर यदि यह निर्माण केवल, वह अपनी आन्तरिक भूख को मिटाने का साधन बनाये हुए था, तब मैं कितना ही उसपर विश्वास कर लेना चाहता, कुछ सही बात नहीं लगती थी। यदि वह उसके हृदय के अभाव की विपरीत छाया थी, तब कहाँ कोई बात सुलझती ?

वह चटपट कह देता। भय का कौन-सा सवाल है। वस्तु का अस्तित्व सर्वदा से इसी तरह चला आया। अचेतन कुछ बातें अपने पर लागू होती हैं। उनके भीतर पैठने को पैनी दृष्टि चाहिए। यदि यही न होता, तब हमारी संस्कृति व्यक्ति के विद्रोह को दबाने का एक साधन नहीं बन जाती। यह कहना तो साधारण बात है कि मनुष्य पांच तत्वों का बना हुआ है। मृत्यु के बाद यदि वह मिट जावे, तो सूक्ष्म पांच और तत्व कभी नहीं मिटते। उनके साथ भले ही सूक्ष्मता रहे, उनका पूर्ण आकार हमें छू सकता है। देख और पहचान लेने की

क्षमता रखता है। यही बात तथ्य की है। कलाकार उसके विपरीत भावना और अभाव से चीजें गढ़ता है। यही बात मेरे इन पत्थरों की बनावट में है। मैं उनको छू सकता हूँ; देख और पहचान भी। किन्तु वे अपना अस्तित्व कहाँ जानती हैं? उसका मूल्य हमारी भावुकता है।"

"तो इस तरह के ढाँचों को बना कर, उपकार कोई मेरी समझ में नहीं आता है। दुनिया को ठग लेने का यह कैसा व्यवसाय तुम फैलाये बैठे हो?" मैं झुँझला कर कहता।

सुमेश साधारण जवाब देता, "दूकानदारी की बात तू उठा रहा है। मुझे बार-बार डर लगता है कि मैं संसार की सुन्दर वस्तुओं को कहीं अपनी कुरूपता से ढक न लूँ। यही तो मैं चाहता हूँ। मेरा अपना आत्मविश्वास है कि सफल हो जाऊँगा। आगे एक दिन जब भविष्य में मिट जाऊँगा; यह सब बेकार तब पड़े नहीं रहेंगे। वह जगह कोई और ले लेवेगा।"

"क्या सुमेश?" मेरे हृदय के भीतर छटपटाहट होती।

वह तो कहता, "अकारण कुरूपता से घृणा नहीं की जा सकती है। मैंने यह ढाँचा एक बुढ़िया का बनाया है। इसी तरह मुझे आशा है कि वह चिता पर मौत के बाद नग्न सुलायी जावेगी। मैं भविष्य के भीतर देखा और टटोला करता हूँ। हाँ, एक वस्तु की ढूँढ़ में अवश्य हूँ; वह है एक प्रतिक्रिया! संसार-भर में रोग फैलते जा रहे हैं। सारी मनुष्य जाति अस्वस्थ है। कुरूप, ध्वनि और भावना नहीं है। आकार में वह गढ़ी जाती है। उस आकार को देख कर हृदय में एक हिचक और स्वाभाविक छी-छी उदित होती है। उसी को साध्य मैंने माना है। एक सुन्दर लड़की को सामने बैठाकर मैंने इसकी रचना की। जब उसने इसे देखा, तब वह घृणा से बहुत गुस्सा होकर चली गयी थी।"

"क्यों?" मैं बात कुछ न समझ सुमेश की ओर देखता ही रह गया। मन में उदासी फैल रही थी। उस मैले कुचैले कमरे में, जहाँ कि फर्श पर धूल की कई तहें जमी थीं, वह एक स्टूल पर बैठा हुआ था। वहीं काले पत्थरों पर छेनी चलाना उसका धन्धा है। कमरे में ऊपर चारों ओर नर जानवरों की खालें टँगी हैं। एक कोने पर मरा कौवा, चील और कुछ पक्षी ढेर में सँवारे धरे हुए थे। नीचे दीवालें आवश्यकता से अधिक कोयले से बनाये गये रेखा-चित्रों से भरी हुई थीं। उनको देखकर लगता कि वह जैसे रेखागणित के प्रश्नों को हल किया करता हो। मैंने पूछ डाला, "यह क्या लड़कपन है? आज भी स्कूली-कालेजी बातों तक को तुम नहीं बिसार सके हो। यह क्या दीवारों को रंगने की सोची है?"

"तुम हो वस्तुवादी दुनिया के आदमी न।" कह, सुमेश खिलखिला कर हँस पड़ा। वह हँसी उस बड़े हाल के कोने कोने से प्रतिध्वनित हो उठी। मैं उसकी ओर देखता-देखता ही रह गया। लगा कि उसकी आँखों की ज्योति धुंधली पड़ रही है। मैंने समाधान करने को पूछा, "उसकी उपेक्षा करने का तो मुझे कोई कारण नहीं लगता है।"

"दुनियादारी ठीक बात है। लेकिन मैं तो उस पर विश्वास नहीं करता हूँ। तू पूछेगा कि यह ढाँचा किस काम का है। झुर्रियाँ पड़ी बुढ़िया है। उसकी ओर एक बार देख लेने से आँखें मूँदने को मन करता है। तुझे अभी नारी की पहचान कम है। उसी नारी जाति के लिए यह मेरा उपकार है। इस मूर्ति की कठोरता में मातृत्व की भावना छुपी हुई है,। जो कि नारी जाति की सब से सुकुमार भावना है।"

अपने विवेक से बात तोल कर भी मुझे सन्तोष नहीं हुआ। कह बैठा, "कलाकार को सौन्दर्य का उपासक दुनिया सदियों से मानती चली आयी है। क्या वह सब बातें विवाद और व्यर्थ हैं? अन्यथा तुम्हारी नीति कथित मिथ्या होगी।"

"लेकिन मैं जो कहता हूँ, वह मेरा अनुभव है। कुछ बातों पर मैंने विश्वास किया। उनको मैं फिर भी कारण नहीं मान सकता हूँ। कौन जाने कि उस कारण के भीतर कोई और विषय हो। कोई बात पूर्ण नहीं। उस पर विचार कितना ही किया जाय, अन्त में मिलेगा शून्य। कई फूल के पौधे हैं। उनके फूल में कोई गन्ध नहीं होती है। उनके छोटे-छोटे पके फलों को छूते ही, आपस में टुकड़े-टुकड़े होकर लिपट जाते हैं। उनके भीतर के बीज वहीं भूमि पर पड़े रहेंगे। न जाने क्यों उसे छूकर एक गुदगुदी लगती है। मनोविज्ञान उसी गुदगुदी की व्याख्या किया करता है। बरसात में तुमने देखा होगा कि मिट्टी को खा-खा कर, एक रेखा बनाता हुआ केंचुला बढ़ता जाता है। जरा उसे छू लो, सिकुड़ कर छोटा बन जावेगा। उस केंचुले और फूल की तरह आदमी के जीवन में भी गति होती है। खुद तुमको अचरज होगा कि मैं मनुष्य की गति को पहचान लेना चाहता हूँ। वह ढांचा जिस लड़की का बनाया है, वह एक अरसे तक हिस्टीरिया की रोगिणी रही। तब यह सम्भव नहीं था कि यह मूर्ति बन सकेगी या नहीं। लेकिन मुझे एक बात सूझ गयी। सावधानी से मैंने उसको भांपना शुरू किया। वह किस बात की अवहेलना करती है, यह बात जान लेनी चाही। मैं अन्त में एक दिन उसे रोग से मुक्त करने में सफल रहा। जैसे ही मैंने देखा कि अब उसका दौर शुरू होने वाला है, बस उसकी दोनों हथेलियों पर एक-एक केंचुला रख दिया। वह कुतूहल से उनको देखती रही। फिर दौरे की गति तीव्र हुई और वह पागलपन के साथ एक को मुँह में डाल कर निगल गयी।"

"निगल गयी!" मैं भौचक्का रह पूछ बैठा।

"यह मैं जानता था। इसी लिए मैंने दोनों हथेलियों पर अलग-अलग रख दिये थे। एक को वह निगल गयी। तब दूसरे को एकाएक देख कर, पहले के लक्षण-रूप का ध्यान आया। वह पाकर

बहुत झुंझलायीं। आगे जब शरीर पर वह हिस्टीरिया वाली प्रकृति फैलनी शुरू होती, उसे उस केंचुले की स्मृति याद हो आती और वह रोग से स्वयं मुक्त हो गयी।"

"क्या यह व्यवहार सही था? लोगों को यह पागलपन के सिवाय कुछ लगेगा भी नहीं।"

"तुम ठीक कहते हो। तुम्हारा दृष्टिकोण दुनिया वाले आदमी का-सा है। मैं खुद पागलों वाला स्वभाव पा चुका हूँ। इसमें कुछ सन्देह नहीं। सात साल एक पागलखाने में डाक्टर की हैसियत से नौकरी करने के बाद, मैंने पाया कि अब मेरी जरूरत वहाँ नहीं रही। इसीलिए त्याग-पत्र देकर चला आया। वहाँ मुझे सैकड़ों पागलों से वास्ता पड़ा। वहीं मैंने अन्त में निर्णय किया कि साधारण पुटेसियम-ब्रोमाइड, या और दवा तथा डाकटरी इञ्जेक्शनों को हटाकर, यदि उनकी भावना और भावुकता पर किसी तरह प्रभाव डाला जा सके, तो मैं सफल हो जाऊँगा। यह मैं अच्छी तरह समझ गया था कि उनके हृदय पर कुरूपता का असर है। वही उनकी दृष्टि में केन्द्रित, आँखों के भीतर तैरता मैंने पाया। उनकी गुनगुनाहट की कठोरता को पहचानते मुझे देर नहीं लगी। मैं यह जान गया कि उनकी कोई भावना कड़ी पड़ गयी है। उनकी उत्तेजना स्वयं एक ऐसा लक्षण था, जिसे बिसारना सम्भव नहीं है। तब मैं भली भांति समझ गया कि उस कुरूपता को अपने में अनुमान लगा लेने के लिए किसी वैज्ञानिक खोखले पदार्थ के बने यन्त्र की जरूरत है। एक्सरे की प्लेट की तरह जो अपने खोखले स्थल पर, पागल व्यक्ति के मस्तिष्क की कठोरता और हृदय की भावुकता को साफ-साफ एक रेखा-चित्र बना कर आगे कर दे। तब सही बात पकड़ में आ जावेगी। और उन पागलों का सही-सही रोग पहचान में आ जावेगा। यह दीवाल पर कोयले से बनाये गये रेखाओं के जाल, हजारों रोगियों के रोग के माप चित्र हैं। उस यन्त्र पर

भी भावुकता का प्रदर्शन ऐसी ही रेखाओं से होता और यह......।"

सुमेश चुप हो रहा। बड़ी देर तक कुछ सोचता हुआ ही रहा। फिर उठ खड़ा हुआ। अपनी मुट्ठी से मेरी कलाई पकड़ कर मुझे उठाया। मैं उसके साथ-साथ आगे बढ़ गया। उसने एक बन्द दरवाजा खोला। वहाँ रोशनदान से बहुत धुँधला प्रकाश आ रहा था। मैंने आँखें मल कर देखा कि वहाँ भाँति-भाँति के ढांचे पड़े हुए थे।

तब वह बोला, "ये हड्डियाँ पशु, पक्षी, आदमी—सब की हैं। वास्तव यही है। यहीं से मैं जीवन का पहला सबक सुझाता हूँ। जिस वस्तु को देख कर निराशा हो, वही हमारे हृदय का ऊपरी आवरण उधेड़ देता है। तुमने कमरे में देखा होगा कि काले हिरनों बारहसींघे आदि की खालें टँगी हैं। पशु-पक्षियों में मादा, नर से अधिक सुन्दर नहीं होती है। नर जानता है कि मादा उससे कुरूप है। नारी की लज्जा कुछ नहीं, अपनी कुरूपता को ढक लेने वाला हथियार है। इसी लिए शिशिर की समस्या को लेकर मैंने नर पशुओं की खालों से ही वहाँ दीवालें सजायी हैं। इन सबसे पीछे आदमी के जीवन में निराशा आती है। वह आशा की तरह सुन्दर नहीं। दुःख ही को ले लो अथवा पीड़ा व्यक्त करने वाले गीत को! और चित्र भी हैं, जिनका जीवन भद्दा है। गिलोटिन को देख कर प्राणदण्ड का कितना डरावना चित्र सन्मुख आता है। इन सब का अस्तित्व केवल हमारी भावनाओं को उठा, हमें कमजोर साबित करना है। हम निर्बल के लिए अनायास मोह बटोर लेते हैं। एक दिन उसे प्यार करने लगते हैं। यह प्यार कर लेने वाला गुण, हमारा बल कभी नहीं रहा है। वह संचालन भर है।"

मेरे पास सब सुन कर भी चुप रहने के सिवाय क्या हथियार था? उस कमरे में हड्डियाँ थीं। उस बाट से जीवन को तोल कर सुमेश क्या चाहता है? उन हड्डियों के नीचे एक प्राणी-जाति का इतिहास चाहे छुपा हुआ हो, वहाँ पर परवशता नहीं थी। मेरे मन में उदासी फैलती।

मैं इस अप्रचलित व्यवहार पर खिन्न हो उठता था।

सुमेश मुझे बड़ी देर तक घूरता रहा। मुझे पहचान कर मेरे मन में पैंठता हुआ बोला, "यह तो कुछ नहीं है रे। यह मानव-जाति हमेशा से इतनी मूल्यवान नहीं रही। आज भाव की भले ही गणना हो। वह सब कथित झूठ है। मानव अपने दिमाग को जितना ही तीक्ष्ण बनावेगा, उतना ही उसका नैतिक पतन समझो। जो इसके साथ चलते हैं, सब के सब ढोंगी हैं। न्याय सामाजिक अपराधी को सजा देता है। फांसी तक देने का चलन है। अस्वस्थ व्यक्ति की रक्षा का प्रश्न कोई नहीं उठाता। मैं यही सोच कर अनुमान लगाये बैठा हूँ कि हरएक व्यक्ति पागल है। पागल के सही माने हैं, कुरूपता से अपने को अलग रखना। व्यक्ति का शरीर निर्बल पड़ता जा रहा है। उसका मस्तिष्क हर पहलू से बलवान नहीं। उसकी रुचि सुन्दरता की ओर प्रबल है। जिसका नग्न रूप है—यौन-आकर्षण।"

"यौन-आकर्षण!" मैं झुँझला उठा।

"क्यों, इसमें कुछ भी विवाद नहीं है! पागलों को मैंने देखा। इतनी सारी हड्डियों को मैंने जांचा और यही पाया कि सब के साथ 'फासफेट' और 'क्लोराइड' की कमी है। चूने का अधिक अंश इन हड्डियों में बुझा हुआ मिला। इससे यही अनुमान लगता है कि बुद्धिवादी जाति के लोग जल्दी नष्ट हो जावेंगे।"

"तब क्या, तुम इस भार को अपने ऊपर ले रहे हो?"

"यह व्यवस्था हरएक पर लागू नहीं करता हूँ। अच्छा तुम देखो...? वह कैसा ढांचा है? काले पत्थर की खोपड़ी है न? एक दाँत टूटा हुआ है। मैंने एक पागल को इसी भाँति हँसते हुए पाया था। जब मैंने यह बना कर उसे दिखलाया, वह गम्भीर बना रहा। कुछ दिनों के बाद डाक्टरों ने प्रमाण-पत्र दे दिया कि वह स्वस्थ है। पागलखाने से वह छुटकारा पा गया। परसों मुझे उसका पत्र मिला था कि वह उस

खोपड़ी को लेने आयेगा। मैंने इस खोपड़ी को अलग निकाल कर रख दिया। वह आया और इसे देखकर भौचक्का रह गया। एक बार आईने के आगे खड़े होकर, उसने अपनी और खोपड़ी के ढाँचे की परीक्षा ली। उसके हाथ से खोपड़ी छूट गयी। वह घूर-घूरकर मुझे देखने लग गया। फिर वह पागल हो गया था।"

"पागल!" बात कुछ समझ में नहीं आयी।

"वह ठीक बात थी। उसका वह दाँत छत से गिरने के कारण टूटा था। उसके मस्तिष्क पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा होगा। उसे हठात् वही बात याद हो आयी। वह अपने को संभाल न सकने के कारण; वीभत्स हँसी हँसता हुआ, बाहर सड़कों पर बढ़ गया!"

"इतनी-सी बात पर?"

"हाँ।" कह कर वह दीवाल के नजदीक पहुँच गया। कोयले से बने हुए एक त्रिकोण पर उँगली रखता हुआ बोला, "अधिक दिन वह जीवित नहीं रह सकेगा। उसके जीवन में भद्दी आकृति वाली जगह को अब कोई पोत नहीं सकता है। यह देख न 'स्पाइन' की हड्डी के भीतर के मज्जे में कण-कण करके लोहा फैल गया है.........."

सुमेश अधिक न बोल सका। उठकर चला आया। मेज पर कई काले पत्थर धरे हुए थे। वह एक पर छेनी चलाता रहा। वह छुन-छुन छुन की आवाज दिल के भीतर पैठकर, प्रतिध्वनित हुई। वह व्यस्त सा अपने काम में लगा हुआ था। मेरे दिल के भीतर उस वातावरण में फैली निराशा समाने लगी। कमरे के चारों ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखता, तो बार-बार सिहर उठता था। एक अकुलाहट और बेचैनी उदित हो रही थी। तभी दीवाल पर टँगी एक खाल पर मेरी निगाह पड़ी। वह कुत्ते की खाल थी। उसके नजदीक पहुँच कर मैंने उसे छुआ। वह बहुत मुलायम थी। उसे छूकर दिल में एक गुदगुदी हुई। जब वह कुत्ता जीवित रहा होगा, तब की उसकी सुन्दरता का सवाल

हठात् मुझे स्मरण हो आया। न जाने क्यों मैं उस खाल को सहलाने लग गया। बड़ी देर तक सहलाता रहा हूँ। मन में कभी-कभी विचारों को फैला लेता था। किन्तु तब भी दिल एक बार ही निपट खाली रह जाता था। आखिर क्यों पीड़ा दिल में होने लगी? मैं तो अधिक भावुक नहीं हूँ। वहाँ से हट कर चला आया। देखा, काले हिरन की खाल थी। सींग पर उँगलियाँ फेरीं। खूब चिकने थे। आगे एक गीदड़ की खाल थी। भारी हिचक के साथ मैं सुमेश के पास लौट पड़ा। वह तो संलग्नता से अपने काम पर जुटा हुआ था। मुझे देखकर कहने लगा, "यह लँगड़ा है। इसकी यह हड्डी टूट गयी थी।"

कुछ झुकाव जरूर था। वह ढांचा अधिक कुछ समझ में नहीं आया। वह तो पत्थर था—पत्थर! इसी लिए चुप रह गया। उस पत्थर पर कई बार ध्यानपूर्वक दृष्टि डाली कि मैं लँगड़े को समझ लूँ। बात अपने में ठीक-ठीक नहीं उतरी।

तभी सुमेश बोला, "आखिर तुम अपने दिल को इतना कोमल क्यों बना रहे हो?"

"मैं।" मैंने अचरज से उसकी ओर देखा।

"हाँ, यही बात मैंने भांपी। अन्यथा कुत्ते और हिरन के बाद श्रृगाल की खाल पर पहुँच कर तुम नहीं लौट आते। लगता है कि कोई चोट तुम्हारे दिल पर पहुँची है। और प्रचिलत धारणा पर कि श्रृगाल को देखकर अपशकुन होता है, तुम्हारे मन में एक सन्देह उठा होगा। खैर, वह कुत्ते की खाल तुम्हारी पहचानी हुई है। वह सरोज के कुत्ते की है।"

"कौन सरोज?"

"तू याद कर न।"

"वही, जो हमारे साथ-साथ एम० एस-सी० में पढ़ा करती थी।"

"तूने ठीक पहचाना। कुछ और याद है?"

"रंगीन कपड़े पहना करती थी। अपने बनाव-ठनाव पर उसका अधिक ध्यान था। लेकिन वह बहुत हँसमुख थी और......।"

"और कुछ नहीं। साधारण घटना हुई। इम्तहान में एक प्रयोग करते-करते उसके हाथ से 'फलास्क' छूट गया था। वह पास नहीं हो सकी। उसके बाद का हाल तू नहीं जानता है। उसके घर के लोगों ने बिना उसकी मर्जी के उसकी शादी कर दी। पति कहीं अच्छे ओहदे पर नौकर था। वह पति से सन्तुष्ट नहीं रह सकी। उसका दबा हुआ 'सेक्स' एकदम उमड़ आया। पति के आफिस चले जाने पर एक दिन उसने पति के इस कुत्ते का गला काट डाला और खुद जहर पीकर मरी हुई मिली थी।"

"उसने आत्महत्या कर डाली थी?"

"यही क्यों। उसने उस कुत्ते के खून को पहले चाटा था। फिर पिया भी है। वह उसके जीवन का अभिमान था। नहीं तो वह हिंसा, पति पर लागू हो जाती।"

"कैसे?"

"उस दिन वह पति का खून करने की ठहरा चुकी थी। हत्या दिमाग में घूमती रही।"

"पति की!"

"कुछ नहीं, कुरूपता का अभाव था।"

"क्या? क्या, सुमेश!"

"पति ने हमेशा उसके दिमाग को दबाने की कोशिश की। जब कभी वह सुन्दर रंगीन कपड़े पहनकर पति के पास गयी, उसने उसकी तारीफ नहीं की। नारी तो नुक्ताचीनी की कायल है। उसका पति जरूरत से ज्यादा सुन्दर था और वह पुरुष जाति को कुरूप देखना चाहती थी।"

"कुरूप?"

"जब वह कालेज में पढ़ती थी, उसने एक लड़के को प्यार किया था, जिसके चेहरे पर चेचक के बड़े-बड़े दाग थे। सब लड़कियाँ उसकी हँसी उड़ाया करती थीं। उसका नारीत्व ऊपर उठता गया। यदि उसे ऐसा ही कुरूप पति मिल जाता, वह अपने जीवन को संभाल लेती। उसके पति ने अपने व्यक्तित्व से उसे कुचलना चाहा था। उसे अपने पति के चरित्र पर अविश्वास हो गया। यह कुत्ता उसके पति को किसी लड़की ने यादगार में दिया था। मेरा यह अनुमान सही निकला।"

"तुम्हारा क्या अनुमान था सुमेश? इस तरह तो किसी तथ्य पर नहीं पहुँचा जा सकता है।"

"नहीं, नहीं! बात यह थी कि उस दिन सुबह उसका अपने पति के साथ झगड़ा हुआ था। इस कुत्ते ने उसकी साड़ी फाड़ डाली थी और उसने पति को कुत्ते को मार डालने की धमकी दी। पति उसकी हँसी उड़ाकर आफिस चले गये। इस तरह की साधारण घटनाओं से जिन्दगी के बड़े-बड़े खेल खेले जाते हैं।"

"तो क्या अब तुम दुनिया-भर का फैसला करोगे?"

"तू पहले पूरी बात सुन ले। तूने उस खाल को छुआ है। लगता था कि कहीं तू नारी-कोमलता का अनुभव पा गया है। उसके बाद हिरन की खाल ने तेरे पुरुषत्व को ऊपर उठा दिया। लेकिन शृगाल की खाल को देखकर हिचक उठने की बात क्या थी? यही न किसी की मौत का ख्याल तुझे आ गया।"

"यह सच्ची बात है। मुझे एक मुरदे की याद हो आयी। वह हैजे से मर गया था। उस पर बड़ी बदबू चली थी।"

"यह झूठ है?"

"क्यों?"

"कुछ और बात भी तूने सोची।"

"मैंने?"

"यही कि कहीं किसी दिन तू भी इसी तरह न मर जाय। तूने इसी डर को अपने में छुपा लेना चाहा था। मेरा अनुमान गलत नहीं। मैंने तेरी ऐसी हिचक के साथ ही यह कुरूप लँगड़े की मूर्ति गढ़नी शुरू की। तू पंगु होता चला जा रहा है। क्या मुरदे की वह बात सच है? मुझे तो सन्देह है।"

"सच है वह।"

"मैं कहता हूँ कि झूठ है।"

"क्यों?"

"तूने इस कुरूप बुढ़िया के ढाँचे की तुलना किसी से की है।"

"मैंने?"

"वह कौन-सी लड़की है?"

"कोई नहीं।"

"कोई तेरी प्रेमिका लगती है।"

"मेरी?"

"क्यों, आश्चर्य की क्या बात है?"

"नहीं है।"

"फिर झूठ।"

"वह मेरी कुछ नहीं लगती है।"

"तेरी।"

"यह तो मैं समझता हूँ कि उससे तेरा कोई खास वास्ता नहीं है। वह जल्दी माँ बनने जा रही है। सोच कर तू भयभीत हो उठता है। दोनों बातें सच हैं।"

"वह एक बहुत सुकुमार लड़की है।"

"माँ बनकर कुरूप नहीं हो जावेगी।"

"गरीब घर में उसकी शादी हुई है। पति की आमदनी बहुत कम है। उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं। कोई उचित व्यवस्था नहीं हो सकती।

मुझे बार-बार डर लगता है कि कहीं वह चटक नहीं जावे।"

"मरना? मौत क्यों बुरी लगती है?"

"सुकुमार वह नहीं।"

"कठोर और कुरूप तो है।"

"लेकिन?"

"यही न, तू कुरूपता को नहीं मानता।"

"सच कह रहे हो तुम। सुना कि यदि बच्चा माँ के पेट में ही मर जाय तो माँ जिन्दा नहीं रहती। मैं ऐसी कुरूपता का पोषक नहीं। तुम्हारी धारणा को स्वीकार करना अनुचित होगा। तुम मुझ पर वह नियम लागू न किया करो। मैं अस्वस्थ हूँ, चाहे उसे अपने में न मानूँ। न मुझे अपने को फौलाद बनाकर चलाना है।"

"तब तुझ में मोह जरूरत से ज्यादा है। तूने उस लड़की के लिए इतना लोभ क्यों जमा कर लिया है?"

"मैंने न! बात ठीक है। मुहल्ले में प्लेग हो जाने पर, जब उसके माँ और बाप मर गये—तब मैंने उसे अपने घर में आश्रय दे दिया था। उस अतिथि को, एक दिन फिर सुन्दर सजा कर मैंने अपने हाथों ससुराल बिदा किया।"

"क्या अपने घर में रखने की चाहना तुमने भुला दी थी?"

"यह ठीक बात है। वह उस घर में रहने के लिए कुछ उत्साहित नहीं रही। बार-बार बात-बात में कहती थी, यह बड़ा उपकार है। मैं इस सबकी कृतज्ञ हूँ। जब मैं उससे उसकी शादी के बारे में कहता था, वह कुछ जवाब नहीं देती थी। हमेशा चुपचाप रही। अब शादी के बाद बार-बार कहती है, मुझे अपने घर में बुला लो।"

"पति से असन्तुष्ट है वह।"

"अब मैंने जाना कि उसको इस तरह घर से बाहर फेंक देना अनुचित बात थी। फिर भी कोई उपाय पास नहीं है। वहाँ वह उदास है।

उसकी आँखों में मैंने फीकापन भाँपा है। जिस दिन से उसने जाना कि वह माँ बनने वाली है, बहुत खुश रहा करती है।"

"जानते हो, उसकी खुशी क्या है?"

"नहीं—नहीं!"

"वह चाहती है कि उसका बच्चा मरा हुआ हो।"

"मरा! नामुमकिन बात है। कोई माँ यह नहीं चाहती है। तुम इस तरह बहकाने वाली बातें क्यों करते हो?"

"वह माँ नहीं बनना चाहती है।"

"नहीं बनना चाहती?"

"तुम देख लेना। यदि बच्चा जिन्दा रहेगा तो उसे 'हिस्टीरिया' शुरू हो सकता है। कौन जाने, वह पागल हो जावे। इसी लिए वह खुद चाहती है कि बच्चा मर जावे। यही उसके हक में ठीक होगा।"

"क्यों सुमेश?"

"कारण यही है कि नारी में भावुकता ज्यादा मात्रा में फैलती जा रही है। लेकिन उसके ऊपर है धार्मिक नैतिकता। तुम्हारे घर में प्रवेश करते ही वह समझी कि तुम उसके पति होंगे। तब उसकी उम्र पति की ओट चाहती थी। उतने दुःख के बाद एक युवती के लिए और कौन-सा ठिकाना ठीक होता? तुमने यह नहीं किया। एक और व्यक्ति उसका पति बना। वह बच्चा एक उलझन वाले जमाने का ख्याल है। अपनी नैतिक भावना के लिए, वह उस बच्चे की मौत चाह कर समूची पति की बनी रहना चाहती है। आज की समझदार युवती का यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है!"

तभी एक युवती कमरे में आयी। वह बड़ी सुन्दर थी। मैं चुपचाप उसे देखता ही रह गया था। उसने वही बुढ़िया की मूर्ति उठायी और घूर-घूर कर देखा। फिर उसे साथ लेकर चली गयी। सुमेश चुप था।

मैंने उससे पूछ डाला, "यही वह हिस्टीरिया वाली युवती है न ?"

"हाँ।"

"लेकिन तुम्हारे चेहरे का रंग फीका क्यों पड़ गया है ?"

"वह भी मरने जा रही है।"

"मरने ?"

"यह समझ में नहीं आता कि अभी मेरी व्यवस्था में किस बात की कमी है। वह आत्म-हत्या करने का निश्चय करके यहाँ आयी थी। मैंने पहचान लिया और रुकावट डालनी मुनासिब नहीं समझी।"

"यह तुम्हारा अपराध होगा। चलो न, वह कहाँ चली गयी है ? हम उसकी मौत से रक्षा कर सकते हैं।"

"वह इतनी सजावट में इसी लिए आयी थी। अब वह अपने कपड़ों पर मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा देगी।"

"तुमने कैसे जाना है ?"

"उसकी सजावट देखकर। यह बात उसके दिमाग में अज्ञेय एक ख्याल गढ़ रही थी। जब वह बच्ची थी, तब उसे कुरूपता ने एकाएक डरा दिया। एक दिन उसके बड़े भाई ने चूहेदानी पर एक बड़ा चूहा पकड़ा था। फिर उस चूहे पर मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगा दी थी। उस लड़की ने उस चूहे की रोशनी को अँधेरी रात में देखा था। उससे उसके दिल पर बड़ी चोट लगी। तब से वह स्वप्न में हमेशा अपने पर आग लगाने की कोशिश करती रही। और आज अब······।"

"तो चलो न। जानकर तुम······।"

"सब बात व्यर्थ है। मेरा यह अधिकार नहीं कि अब उसकी रक्षा करूँ। अब तक सब खेल खतम हो गया होगा। चलो फिर देख आवें।" कह सुमेश उठा। हम दोनों बाहर चले आये। वह बोला, वह उसका कमरा है। हमने उसका कमरा खोला। धुआँ भर रहा था। मैं चीख उठा। वहाँ एक कुरूप लड़की पड़ी थी। वह बेहोश थी। पास

ही मैंने उस बेडौल बुढ़िया के ढाँचे को देखा। सुमेश तो बोला, "तुम अब जाओ।"

और मैं भयभीत होकर चला आया था।

पन्द्रह दिन के बाद, सुशीला के सच ही मरा हुआ बच्चा हुआ था। सुशीला रोयी नहीं। मैं सुमेश को खबर देने पहुँचा था। मकान में सुनसान था। कमरे-कमरे में घूमा। आखिर पाया कि उन हड्डियों वाले कमरे से भारी बदबू चल रही थी। मैंने देखा कि वहाँ उस युवती की सड़ी लाश थी। वहीं मैंने सुमेश को बैठा हुआ पाया। मैंने पास जाकर पुकारा, "सुमेश…!"

"क्या है ?"

"मरा बच्चा हुआ है।"

"ठीक है।"

"तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?"

"मैं ?"

"हाँ तुम ! यह लाश है। चलो-चलो, छी-छी !"

"लेकिन मैं तो यहीं रहूँगा।"

"यहीं।"

"उसी कुरूपता को देख रहा हूँ कि यह शरीर कब तक सड़-सड़कर गलता है। मैं उन हड्डियों को फिर देखूँगा। यह समझना है कि उनमें क्या कमी थी ?"

मैंने देखा कि उसी बुढ़िया के ढाँचे को वह हाथ में लिये था। पूछा, "यह किस लिए लाये हो ?"

वह कुछ बोला नहीं। खिलखिलाकर हँस पड़ा था !

किन्तु ……?

फिर वही बात :

हरीश बाबू हाजिर हैं। और विश्वनाथ मन-ही मन चाहे कितना ही कुँझलाये, चुपके बिस्तर से उठ कर पूछा, "क्या बात है?"

"घूमने नहीं चलोगे।"

"क्या बजा होगा?"

"सिर्फ साढ़े पाँच।"

"तब यों क्यों नहीं कहता है कि आधी रात ही घूमने चलना पड़ेगा।"

"आठ बजे तक सोते रहना ठीक नहीं। किस डाक्टर की बनायी दिनचर्या की-पाबंदी हो रही है?"

विश्वनाथ ने कुछ जवाब नहीं दिया। उसे हरीश की जिंदादिली पसन्द है। लेकिन जनवरी के महीने में तड़के सुबह, कोई आकर कहे, घूमने चलो—यह निरा पागलपन है। पूछा, "आज यह सुबह-सुबह घूमने की सनक कैसे सूझी?"

"कल नुमायश में सीता मिली थी।"

"वह मिली थी!"

"हाँ शायद कहीं रिश्तेदारी में आयी है। वह आज सुबह को डाकगाड़ी से चली जावेगी।"

"तभी यह घूमने का शुभ मुहूर्त तूने ढूँढ़ा है।"

"मैंने!"

"इसी के लिए बेवक्त मेरा फजीता किया। मजे की नींद आ रही। सीता तो……।"

"मैं खुद परेशान हूँ। कल नुमायश में एक 'स्टाल' पर खड़ा

था। सोचा, कहीं अखबारों में नाम न लिख लिया जावे, इसी लिए कुछ खरीददारी करने की ठहरायी थी। सभ्य और भले आदमी के लिये यह हितकर है। तौलिये, बनियान और सूटिंग के कपड़े देख रहा था कि एक हल्की हँसी की आवाज कानों में पड़ी। सामने देखा, सीता कुछ औरतों के साथ खड़ी है। उसने मुझे देखकर परदा कर लिया था। मैं अवाक् रह गया। तीन साल से जिस सीता के बारे में कोई ज्ञान नहीं, वह इस तरह मिलेगी, किसे उम्मेद थी। पहले थोड़ा सन्देह उठा। तो भी वह सीता का ही ढाँचा था। साथ दो बच्चे! चेहरे पर कुछ गंभीरता आ गयी है। नीचे खड़ी लड़की न जाने क्यों बार-बार भाभी, भाभी! चिल्ला रही थी।"

"और लड़का?"

"वह तो उस पाँच साल के लड़के को गोदी में लिये हुए थी। मैं कान्ति को पहचान ही गया। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों की डेबलिया और चेहरा बिलकुल सीता का-सा है। लगा कि सीता कभी बचपन में वैसी ही रही होगी।"

"लेकिन हरीश, कई बार तूने सीता को न देखने तक की कसमें खायी थीं। पाँच साल से जो रिश्ता टूट गया, उसे जोड़ लेने की सामर्थ्य तुम में नहीं है। परसों ही तू दलील कर रहा था कि सीता के लिये तेरे दिल में कोई विद्रोह बाकी नहीं। तू उस आडम्बर से अपने को बरी कर, कमजोर साबित हो, अकर्मण्य कहलाने का कायल नहीं है!"

"यह मैं इनकार नहीं करता। मेरा तो घटनाओं पर अपना अधिकार नहीं है। हमेशा ही हम में झगड़ा बढ़ कर, समझौता हो जाया करता था। एक दिन की बात है। मैं उस दिन 'हिल-स्टेशन' छोड़ने वाला था। आठ-दस दिन वहाँ रहकर मन नहीं लगा। सीता भी उन दिनों अनमनी रही। कभी उसने बातें नहीं कीं। हमेशा छुप-छुप कर रहना सीख लिया था। जब मैं लारी की अगली सीट पर बैठ गया और

लारी चलने लगी, मैंने देखा कि सीता अपने परिवार वालों के साथ पिछली सीट पर बैठी हुई थी। कान्ति बार-बार मेरे पास आने को मचलती थी। एक बार हिम्मत करके उसने पुकारा, 'चाचाजी !' लेकिन एक चपत खाकर रोने लगी। सीता का श्वसुर कुछ नाखुश लगा !"

"हरीश उनकी नाखुशी ठीक तो थी। तू ठहरा लोफर ! आदमी के लिए प्रेम करना एक साधारण घटना है। नारी का जीवन तो मिट जाता है न ?"

"मैं हूँ पशु और आवारा। दुनिया-भर का विद्रोह जैसे कि मैंने बटोर लिया है। जानता है, मेरी इस सारी उच्छृङ्खलता की जिम्मेदारी किस पर है ? क्यों मेरा मन स्वस्थ नहीं और इस तरह मारा-मारा फिरता हूँ।"

"वही तेरी सीता।"

"बात ठीक है। सीता ने मन में भारी अविश्वास पैदा किया है। उसका विधवा हो जाना भारी भय पैदा करता था। पहले वह दिन-भर रोती रहती थी। लेकिन दो बच्चों के बाद भी उसकी आँखों में यौवन की भूख थी। अपनी सभ्यता से बाहर यदि पशुओं की दुनिया में झांकता हूँ......।"

"क्या, क्या ?"

"पशु-जीवन का मनोविज्ञान ! क्यों, डर की क्या बात है ? उनका एक सरल कानून है। मधुमक्खियों का छत्ता देखो। एक रानी होती है, कई नर और बाकी सब मजदूर। सबसे सबल मर्द राजा बनता है। बाकी नर मार डाले जाते हैं। एक दिन वह नर भी मर जाता है। रानी अण्डे देती है। मजदूर-मजदूरनी के आगे वासना का सवाल नहीं होता। चिड़ों की आवाज सुनी है; मेंढकों की टें टें टें; पक्षियों के गाने—सब वासना का तकाजा है। हरएक अपने स्वर से अपनी जाति की मादा को मोह लेना चाहता है। जानवरों में कुछ नरों

के सींग होते हैं। वह भी 'सेक्स' के सवाल हल करने को ही हैं। सबसे बलवान हिरन और बारहसींगा कई पखियाँ रखता हैं। कमजोर मार डाले जाते हैं। लेकिन हम सभ्य हैं!

"तब मनुष्य में तू एक नये धर्म का प्रचार करने की ठान रहा है?"

"नहीं-नहीं! सीता के भीतर एक लुभावनापन मैंने महसूस किया था। जब कि काफी जान-पहचान के बाद एक रात्रि उस सीता ने अपने मकान का दरवाजा खोल दिया; तो मैं अचरज में रह गया। क्या वह एक बावली नारी थी!"

"तब सीता का चरित्र!"

"नारी का चरित्र न? मैंने उसको सर्वदा विश्वास माना है। व्यर्थ एक विवाद चलाना अनुचित है। सीता के लिए मेरे दिल में हमेशा आदर रहा और आज भी उतना ही है। नारी की कमजोरी का एक वहम कभी-कभी दिल में जरूर उठता है। मैं आज यह जान लेना चाहता हूँ कि क्यों सीता ने उस आधी रात को अपने मकान का दरवाजा खोला था? तब मुझे दुनिया का कोई ज्ञान न था। अब मुझमें सवाल पूछ लेने वाली सामर्थ्य है। इस बात को ऐलानिया कहता हूँ कि सीता ने मेरी जिन्दगी बिगाड़ डाली। व्यर्थ मुझे दुनिया में फेंक दिया। कहीं मेरा मन नहीं लगता है। हमेशा एक बेचैनी और अड़चन घेरे रहती है।"

"और तेरी वह दूधवाले की लड़की!"

"लच्छी, परसों से लापता है।"

"चली गयी?"

"हां, मेरे आगे परसों वह बड़ी देर तक रोती रही। कहती थी, अब मेरे बच्चा होने वाला है।"

"बच्चा!" मैं असमञ्जस में बोला था।

"सातवां महीना है।"

"ओ ठीक!"

"भला मुझे महीनों का क्या ज्ञान होता। कुछ न कह कर सोचा कि कहीं अब नौकरी करनी ही पड़ेगी। उस बच्चे को देखने की बड़ी ख्वाहिश थी।"

"सात महीने के बच्चे को लेकर वह क्यों भाग गयी? कहाँ अब मारी-मारी डोलेगी?"

"वह मेरे साथ दो साल रही। उसके लिए मैंने भारी अपमान और अपवाद सहा। उसे एक साधारण नौकरानी की हैसियत से न रख कर अपनी गृहस्थी के लायक बनाया था। जब सीता ने एक दिन दुतकार दिया था तो मुझे कुछ नहीं सूझा। तब कालेज में पढ़ा करता था। यह लड़की अपने बूढ़े बाप के साथ दूध देने होस्टल में आती थी। मैं उलझ गया। भविष्य की कोई परवा नहीं की। उसको साथ ले लिया। फिर हम दोनों साथ रहे। अन्दाज था कि ताजिन्दगी साथ रहेंगे, किन्तु......?"

"किन्तु नहीं......। वह भाग गयी है, तब जाकर तुझे आज सीता की याद आयी। क्यों हरीश, यह बात क्या है? सीता एक गृहस्थी के भीतर की नारी है और लच्छी तो......।"

"नहीं, नहीं! तुलना करने का मुझे कोई अधिकर नहीं है। कल नुमायश में सीता को खड़ी देखकर, एकाएक ख्याल आया कि सीता के अलावा मेरा कोई नहीं है। हमारे बीच वाला समझौता सही था। सीता भले ही विधवा हो, मैं उसे अपनी सगी गिनता हूँ। इसके लिये सीता और मैंने समाज से आज्ञा नहीं मांगी। सिर्फ एक रुकावट थी। सीता का पति दो बच्चे सीता को सौंप गया था। यदि वे दो बच्चे नहीं होते, मैं सीता को अपनी गृहस्थी में फुसला लाता। हम दोनों ठीक-सी एक गृहस्थी चालू करते। न मैं दुनिया में इस तरह मारा-मारा डोलता, न सीता को छुप-छुपा कर चलना लाज़िम था।

एक दिन सीता से मैंने अपनी इस गृहस्थी की बात कही थी।"

"क्या बोली वह?"

"कुछ नहीं—कुछ नहीं! स्तम्भित रह गयी थी। बड़ी देर तक चुपचाप आँखें फाड़-फाड़कर मुझे देख, घूरते कहा था—'पापी हो तुम अन्यथा ऐसी बातें नहीं गढ़ते।' मैं बात कहाँ पकड़ पाया था?"

'चाहते होगे इस शरीर पर अपना अधिकार करना। पुरुष हो न। लेकिन हमारी असमर्थता दैविक है। यह सब जानकर क्यों तुम दुनिया भर की बातें मन-ही-मन गढ़ा करते हो?'

'कब कोई बात मैंने सोची है?'

'तब यह इतनी बातें क्या कह रहे थे। मेरी गृहस्थी—विधवा की! राम-राम, ऐसी बात आगे मत कहना। तुम्हारा मुझे दुनिया के आगे सीधा मुँह खड़े रहने देने का इरादा नहीं है। दो बच्चे हैं। मुझे और क्या चाहिए। भगवान बच्चों को बचा ले, बहुत है।'

"मैं विधवा के इस ब्रह्मचर्य पर अवाक् रह गया था। पति की याद कर बड़े-बड़े आँसू उसके ढुलक पड़े थे। तभी कान्ति आयी और बोली—चाचाजी!'

'क्या है बेटी?'

'विलायती मिठाई नहीं लाये हो।'

'भूल गया।'

'रोज भूल जाते हो। अच्छा, तुम हमारे चाचा नहीं हो।'

'कितनी मिठाई खावेगी', सीता बोली थी। और कान्ति माँ के डर से, मुझसे चिपट गयी। तभी मैंने कान्ति से पूछा था—कान्ति, तू सब से ज्यादा किसे प्यार करती है?'

'तुमको।'

'सीता को नहीं।'

"कान्ति ने एक बार अपनी माँ की ओर देखा और फिर सिर हिला-

कर इन्कार किया। मैंने कान्ति को उसकी माँ का नाम कहना सिखला दिया था। वह मेरे आगे माँ को सीता कहती थी। फिर भी सीता चुप-चाप मलिन बैठी रही। वह अब अनमनी हो उठी और कपड़े सँभालने लगी। एक बार वह मुझसे कुछ कहने को पास आयी और फिर चली गयी। जैसे कि मैंने कोई भारी अड़चन बीच में डाल दी थी। मैं इस भारी चुप्पी से ऊब बैठा। पूछा—'कान्ति, तू मेरे साथ चलेगी ?'

'कहाँ ?'

'चाची के पास।'

'चलूँगी।'

"और सीता।"

'वह नहीं जावेगी। मुझे मारती है।'

'तभी सीता हँस पड़ी थी। बोली—कहाँ है री तेरी चाची ?'

'देश।'

'तब चली जा।'

"फिर भी सीता के मन में खुशी नहीं आई। चेहरे का रंग उड़ गया था। मैंने गृहस्थी की उस व्यवस्था को सौंपकर जैसे कि उसे भारी दुःख और पीड़ा पहुँचायी हो।"

"हरि, क्या तू इस तरह सीता की लड़की के मार्फत उसके जीवन में पागलपन फैलाना नहीं चाहता था ?"

"मैं ! क्या ? मैं खुद कान्ति और सीता दोनों को आपस में पास पास बैठाना चाहता था। जान कर कि वह लड़की सीता की एक भारी जरूरत थी। उसे सँवारने में ही सीता अपनी सारी बुद्धि और वक्त खर्च करना जान गयी थी। तब बेबी बहुत छोटा था—शायद छः सात महीने का।"

"नुमायश में कान्ति को पास बुलाकर, तूने प्यार करना नहीं चाहा ?"

"कान्ति बची है। भूल गयी है। आश्चर्य की बात तो यह है कि सीता ने मुझे देख कर औरतों की ओट ले ली।"

"तब तुझे कैसे मालूम हुआ कि वह कल जा रही है?"

"मैंने उसकी बातें सुन ली थीं। वह सीता अपनी किसी सहेली से कह रही थी।"

"तब तो मैदान फतह कर लिया।"

"कुछ बात समझ में नहीं आती है। उस दिन जब मैं जाने को था, सीता ने पूछा—रात को आओगे? तुम्हारी गृहस्थी की बात पर विचार करना पड़ेगा।"

"सीता ने कहा था?" विश्वनाथ ने हरीश को घूरा।

"मुझे सीता की उदासी डस गयी थी। मैं सीता से माफी माँग लेना चाहता था। कसूरवार तो था ही। और आधी रात को सीता ने बुलाया था। सीता पीली पड़ गयी थी। उसका धुला हुआ चेहरा था। मैं उसका आभूषण-हीन मुँह देख कर डर गया। मैं मेज से लगी कुर्सी पर बैठ गया था। सीता पलंग पर लेट कर, बच्चे को थपथपाती रही। मैं अवाक् चुप था। सीता को देखने का साहस नहीं हुआ। आधी रात! सीता के इस करतब पर बार-बार डर जाता था। तभी सीता बोली—'हम में गलतफहमी हुई है। मैं अपनी इस गृहस्थी से सन्तुष्ट हूँ। तुम पुरुष हो— सबल हो।' अनायास उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। मैं ऐसी स्थिति से परिचित नहीं था। मैंने सीता को कुछ नहीं समझाया। आखिर मुझसे वह सीता क्या चाहती थी? मेरा उससे क्या सरोकार था? मैं उसका एक साधारण परिचित था। मेरी रिश्ते वाली अपनी कोई निजी हैसियत नहीं थी। अक्सर उसकी पीड़ा का अन्दाज लगाया करता था। मैं कुछ नहीं बोला। चुपचाप सीढ़ियों से नीचे उतर गया था। मैंने नीचे से देखा था कि सीता अपने जीने पर खड़ी है—वह खड़ी ही रही।"

"बिलकुल नयी उलझन है !"

"इस सीता ने ही मुझे पंगु बनाकर जीवन चलाने को मजबूर किया। अपने उत्तरदायित्व को भूल गयी। उसे शायद यह मालूम नहीं कि मेरा अपना कोई निजी व्यक्तित्व नहीं है। मैं निपट चुका हूँ। शरीर पर प्राणों का कुछ मोह है। इसी लिए जीवित हूँ। अन्यथा कोई उत्साह नहीं। आज किसी 'अपने' के पास पड़े रहने को दिल तड़पता है। दुनिया और दुनियादारी से उब उठा हूँ। कुछ ठीक नहीं लगता है। कोई अपना ऐसा नहीं, जिसे सारी बात सौंपकर निश्चिन्त रह सकूँ। यदि सीता जरा सावधान हो जाती तो मैं ऐसा नहीं होता। मैं इतना निकम्मा नहीं था।"

"हरीश, सीता को कोसना ठीक नहीं होगा। कौन जाने, वह क्या-क्या भुगत रही हो।"

"सीता ने ही अपना वादा पूरा नहीं किया। उसने हमेशा अपने सुख-दुख का हाल चिट्ठी में लिखने का वादा किया था। वह भूल गयी। मैंने कई चिट्ठियाँ डाल कर याद दिलायी, फिर भी कोई जवाब नहीं मिला।"

"शायद उसे मौका नहीं मिलता हो ?"

"मौका, झूठ बात है। वह खुद नहीं चाहती। उस दिन वह 'हिल-स्टेशन' से साथ-साथ लारी में आयी थी। उसने स्टेशन पर कहा था, 'मुझे चिट्ठियाँ मत लिखा करो। मैं जवाब नहीं दूँगी।"

"और तुमको बात लग गयी।"

"मैं क्या करता। दिल की पीड़ा बढ़ गयी थी। सीता के उस अन्याय ने मुझे निर्जीव बना डाला। उन्हीं दिनों लच्छी होस्टल में दूध देने आया करती थी। उसकी शोहरत थी। लच्छी मेरे साथ रहने को तैयार हो गयी। मैं कुछ क्या करता! उसे अपने साथ ले लिया।"

"सीता जानती है?"

''उस 'हिल-स्टेशन' के बच्चे-बच्चे को मालूम है। वह चर्चा हर एक के कान में पड़ी। मेरी इस आवारागर्दी पर सारा समाज नाखुश हो गया। उस सब की परवा न करके मैंने सोचा था कि हमेशा लच्छी के साथ रहूँगा। इन दो सालों में मैंने लच्छी को सब काम-काज सिखला दिया था। वह हर तरह घर के भीतर-बाहर निभने लगी थी। मैं उस होने वाले बच्चे के साथ की जिम्मेदारी के लिए तैयार था।"

"तब वह क्यों भाग गयी?"

''मुझे खुद कुछ मालूम नहीं है। मैं उसके मन की बाते कभी नहीं समझ सका। मैंने लच्छी को हर तरह खुश रखने की चेष्टा की, फिर भी वह चली गयी। मैं बात का कुछ अन्दाज नहीं लगा सका हूँ।"

"उसकी खोज की।"

"सब जगह ढूँढ़ आया हूँ।"

"तब?"

"वह यह कहती थी कि उसकी शादी एक जगह तय हो चुकी है। उसकी ससुराल वालों ने उसके लिए गहने बनवाये थे। उन गहनों को कई बार उसने पहना था। उन गहनों की एवज में काफी रुपये देकर मैंने उसे साथ रखा था। वह मेरे आगे अपने होने वाले भावी पति का मखौल कई बार उड़ाया करती थी। एक-एक करके मेरे आगे उसके गहने बेचने की मजबूरी आयी। वह नाखुश रहने लगी। कितना ही उसे समझता कि वह माँ-बाप के खुश होते ही वह लाखों की जायदाद की मालकिन बन जावेगी; फिर भी गहनों का अफसोस वह अपने मन से नहीं हटा सकी। परसों वह कुछ झगड़ पड़ी थी। जब उसकी झँवरियाँ बेच कर लौटा, तो वह बोली—'मैंने गलती की, जो तुम्हारे साथ भाग आयी। वहाँ होती, यह सब नहीं देखना पड़ता।'

"तब वहीं क्यों नहीं चली जाती।' मैंने मजाक किया।'

'चली जाऊँगी। क्या आँखें दिखलाते हो!'

"मैंने अधिक बात नहीं की। बाहर आकर बहुत सोचा और तय पाया कि हमारी सामाजिक व्यवस्था एक दिन कड़ी नहीं रहेगी। पशुओं की तरह अन्त होगा। जहाँ न गृहस्थ है, न कोई कानून। सिर्फ अपने आगे की सृष्टि के लिए, वहाँ नर और मादा की गणना है। उसके भीतर न स्वार्थ है, न कोई और तत्व। हमारा ज्ञान और यह इतनी सारी व्यवस्था गलत ही न साबित हुई। पशुओं में न अपना है, न पराया। सारा धन्धा-रोजगार-सा नहीं है कि आड़ की जरूरत पड़े। मैं वह बुद्धि पा लेना चाहता था। अन्यथा लच्छी को इस तरह चला जाना नहीं होता। न उसे अपनी गृहस्थी में रख लेने वाला स्वार्थ ही पैदा होना जरूरी रह जाता। तुम्हीं सोचो कि बेकार हमारी सभ्यता ने नारी का मूल्य बढ़ा दिया है। इस लिए तो एक वेश्या कीमत की भूखी होती है।"

"क्या! हरीश क्या कहते हो? लच्छी वाला वर्ताव और सीता का; कुछ ऐसा नहीं है कि हरएक पर लागू हो। न इन सारे चालू सामाजिक नियमों की विवेचना करनी ही ठीक होगी।"

"तुम नहीं जानते, कि लच्छी कहाँ चली गयी है।"

"अपने पिता के घर और जायेगी कहाँ? छोटे घर की लड़की ठहरी। उसकी दूसरी शादी हो ही जावेगी। यह तो उनके यहाँ मामूली बात है।"

"तुम्हारी यह धारणा गलत है। वह अपने उस आदमी के पास गयी है, 'जिससे उसकी शादी तय हुई थी। मेरे साथ चले आने के बाद भी, वह उसका ख्याल भूल नहीं सकी। हम लोग ठहरे सभ्य श्रेणी के लोग। उसे अपने से मेल खाते व्यक्ति की जरूरत थी। मेरे बाहरी टीमटाम वाले व्यक्तित्व पर अधिक दिनों तक वह रीझी

नहीं रह सकी। एक दिन माँ बन जाने पर, उसे अपना अपराध ज्ञात हो आया। यह वह समझी कि उसने भावुकता की वजह, एक गलत आदमी का आश्रय लिया है। अब वह उस सही आदमी के पास जाकर माफी माँग लेगी।"

"माफी?"

"उन लोगों में सहृदयता का बर्ताव होता है। वहीं उसे जगह मिलेगी। अपने आदमियों के बीच रह कर, उसे खुशी भी होगी।"

"क्या?"

"शायद तुम यह नहीं जानते होगे कि उसको बचपन से गाय-भैंसों का ज्ञान था। गायें कै तरह की होती हैं? कौन घास किस मौसम में दी जानी चाहिए? यदि उनको यह बीमारी होगी, कौन-सी दवा दी जानी चाहिए? उस समाज की बातें किताबों में नहीं मिलती हैं। कई बार उसने एक गाय पालने की चाह प्रकट की। वह सब काम निभा लेने को कहती थी। अपने भावी पति के गाय-भैंसों की तादाद उसे मालूम थी। उन पशुओं पर उठते हुए, उसके दिल के कुतूहल का मेरे पास कोई जवाब नहीं था। मैं कभी-कभी ऊब जाता। उसके असन्तोष को जान कर भी चुप रहना सीख गया था। यह परवशता थी। पहले एकाएक वह बहाना पाकर मेरे साथ चली आयी। जब उसने सोचना शुरू किया तो वह साथ भाग आना अनुचित लगा। मैं अपनी किताबें और अखबार पढ़ा करता, वह अपनी गाय-भैंसों वाली दुनिया में लीन रहती थी। अवसर पाकर ही……।"

"हरि-हरि……!"

"क्यों, क्या बात है?"

"और वह बच्चा?"

"बच्चा तो होगा ही। इसे वह समाज अपवाद नहीं गिनता। वहाँ यह पुरुष और नारी दोनों का कसूर गिना जाता है। लच्छी का मान

नहीं घटेगा। आगे जीवन में वह बचपन की गलती तुफैल बनकर खड़ी नहीं होगी। वे कड़ा बर्ताव नहीं बरता करते हैं। वह पति लच्छी को पाकर फूला नहीं समावेगा। एक व्यर्थ के नैतिक ढोंग की परवा वे नहीं किया करते हैं। चलोगे स्टेशन ?"

"स्टेशन !"

"सीता को देख आवें।"

"हरीश !"

"विश्वनाथ, तुम मुझे सीता को देखने के बाद सही-सही समझ सकोगे।"

"तुम्हारी सीता और लच्छी ! तुमसे सुनकर ही तसल्ली हो जाती है। वे चिरकाल तक जिन्दा रहें।"

"मौत तो सिर्फ तुमको आवेगी और तो सब अमर हैं न !"

"तू स्टेशन जावेगा।"

"जरूर-जरूर ? तुम चलो। सीता से सारी बातें पूछूँगा। उसे बहुत कुछ समझाना है। उसे लच्छी की बातें सुनानी हैं। उसने यह सरासर धोखा दिया है।"

"धोखा !"

"तब यह क्या है ?"

"खैर, तुमसे सीता बातें करेगी ?"

"मैं उसके आगे खड़ा होकर सवाल पूछूँगा। सब्र मुझे नहीं है।"

"लेकिन हरीश ?"

"क्या विश्वनाथ !"

"यह पशुओं का समाज नहीं है।"

"होने दो।"

"यहाँ कायदे-कानून हैं।"

"और लच्छी का समाज ?"

"उसे जाने दे। क्या तुझे स्टेशन पर देखकर सीता को खुशी होगी ?"

"तो कहने की जरूरत क्या थी कि वह उस गाड़ी से जा रही है।"

"वह चाहती थी कि तुम स्टेशन आओ, लेकिन डर गयी। वह असहाय है। उसके अपने हाथ में कुछ नहीं है। कान्ति बीमार रहती है। उसे 'लिवर' की बीमारी है। वह लड़का भी बहुत कमजोर है।"

"क्या विश्वनाथ ? तुम कैसे जान गये हो ?"

"उसने कल 'श्रीमतीजी' से सारी बातें कही थीं।"

"भाभी से ?"

"तुम्हारी भाभी तुम्हारा सारा दास्तान जानती है। मैं उससे कह चुका हूँ। वह कल वहाँ बैठने गयी थी।"

"क्या कहा था सीता ने ?"

"अपना ही दुखड़ा रोती रही।"

"फिर……?"

"यह कहा कि वे शादी कर लें। इस तरह मारे मारे फिरना अनुचित है।"

"क्या ! वह ऐसा नहीं कह सकती है। झूठ बात है। केवल एक दिखलावा है।"

"सब कुछ सच है। उसने हाथ जोड़कर कहलाया है कि तुम स्टेशन मत आना।"

"मैं तो जाऊँगा।"

"जाने से मैं रोकता नहीं हूँ।"

"वही समाज, वही सब कुछ, किन्तु…………?" कहकर हरीश चुपचाप कुर्सी पर से उठ खड़ा हुआ। उसका चेहरा मुर्दे की तरह सफेद पड़ गया था।

फ्रांस के मैदान में

उन पहाड़ी गांवों का अपना एक रोजाना जीवन है। वही पुरातन से रमी संस्कृति आज भी अछूती बची हुई है। वे हिमालय के हृदय में बसे हैं। उन तक साधारण बाहरी हल्ला नहीं पहुँचता है। सरकार ने छोटे-छोटे कस्बों में डाकघर बनाये हैं। कहीं एक-दो बड़े कस्बों में तारघर भी हैं; किन्तु इस सुविधा की पहुँच भीतरी लोगों तक नहीं है। उनको कथित बाहरी सभ्यता से कोई मतलब नहीं है। सालभर में दो-तीन बार, वहाँ के लोग दल बनाकर, तीस-चालीस मील की दूरी पर बसे कस्बे में जाते हैं। वे घी साथ ले जावेंगे। अपने यहाँ की और पैदावार, या कोई तिजारती चीज। उसके बदले में नमक, कपड़े व जरूरत की और चीजें ले आते हैं। उनका खरीददारी की खास वस्तु पैसा से। अधिक सरोकार नहीं रहता है। वह रास्ते की दूरी, सिर्फ पहाड़ी पगडंडी होती है। जो कि चलते आदमियों का सहारा पाकर, स्पष्ट चिट्टी चौड़ी लकीर-सी, साफ-साफ पहाड़ों में दीख पड़ती है। कहीं-कहीं वह छोटी बटिया चीड़ के पेड़ों की पयाल से भरी रहती है। उस पर बहुत सावधानी से चलना पड़ता है कि कहीं पाँव फिसल न जावें। नीचे एक ओर पहाड़ी नदियों की नीची घाटियाँ होती हैं। उधर देखने से भारी भय लगता है। और दूसरी तरफ ऊँचा पर्वतीय शिखर। वे ईमानदार लोग होते हैं। उनकी दृष्टि में पैसा व्यवसाय का जरिया नहीं है। उनका विश्वास है कि यदि वे फायदा उठाने की चेष्टा करेंगे, तो वह भारी पाप होगा। इसी लिए घाटियों के गाँव वाले केला, नारंगी, अखरोट व और सौदा बहुत सस्ता बेंचते हैं। उनकी दृष्टि व्यापारिक नहीं होती। अपनी एक सूझ होती है कि हरएक व्यक्ति का वे आदमी की तरह आदर करते हैं। उनके लिए

आदमी छोटा-बड़ा नहीं होता है। वे इन्सान को पहचानते हैं। अतिथि का सम्मान करते हैं। वे इसको सौभाग्य गिनते आये हैं। वे साधारण पर सहृदय लोग होते हैं। उनकी सरलता में जीवन है। उनका विश्वास चिर-प्रचलित ऋषि-मुनियों से चली धारणाओं पर निर्भर रहता है। वे उसके प्रतिकूल नहीं चलते। वे देवताओं को पूजते हैं। उनमें देवी की पूजा के साथ बलिदान करने की प्रथा प्रचलित है। वे भूत को मानते हैं। उनका तो यह कहना है कि हरएक खानदान का अपना एक-एक इष्ट होता है, जो उसकी रक्षा करता है। उनके गाँवों में नागराज और भैरव के मन्दिर होते हैं। ये दोनों देवता गाँव की रक्षा पिशाचों से करते हैं।

उनसे बीच ही, वह एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ की नारियाँ सुबह उठकर घास-लकड़ी को जाती हैं। वहाँ के लड़के-लड़कियाँ दिन को अपने ढोरों को लेकर जंगल में चले जाते हैं। वहाँ के युवक-युवतियाँ सुन्दर-सुन्दर गीत गाते हैं। वहाँ की दिनचर्या भी मौसमों के साथ बदलती है। जाड़ों में वहाँ चारों ओर बरफ-ही मिलेगी। उस सफेदी के बीच छोटे-छोटे घरों से निकलता धुआँ बहुत सुन्दर मालूम होता है। वे लोग अपने-अपने काम में लीन रहा करते हैं। उनको इधर-उधर औरों की बातों को सुन कर उसपर नुक्ताचीनी करने की फ़ुरसत नहीं है। वे लोग मृगतृष्णा के पीछे नहीं भटकते हैं। उनके जीवन में विकृत छटपटाहट नहीं होती है। उनका अपना सात्विक जीवन है। उस जीवन के भीतर कभी-कभी एक स्वाभाविक अकुलाहट घेर लेती है। किन्तु वह रोग की तरह नही फैल पाती। वह परिचर्या में परिणत नहीं होती है। सब उनका अपना सुख-दुःख है। वे अपने आप निभ जाते हैं। वे किसी दूसरे का आसरा नहीं ताकते। वे भावना पर नहीं चलते। स्वयं चलना जानते हैं। वे अपने को हर तरह सबल पाते हैं। फिर भी कभी-कभी उनको बाहर की सभ्यता छू लेती है। उनके अपने समाज के भीतर

राजा का प्रतिनिधि रहता है। वे उससे बाहर की सारी बातें सुनते हैं।

उसी गाँव में हलचल फैली है। पिछले पन्द्रह दिनों से तहसीलदार साहब आकर गाँव-गाँव में भरती कर रहे हैं। लड़ाई शुरू हो गई है और युद्ध में जाना राजपूतों का धर्म है। वे उनकी बातें सुनते हैं। वे कायर नहीं हैं। फिर भी उस अफसर के आश्वासन से लोग भीतर-ही-भीतर संकुचित हो उठते हैं। क्या उसकी बातें सत्य हैं? वे कुछ नहीं जानते। पिछले महायुद्ध का सदमा अभी तक गाँव पर है। वहाँ कई विधवाएँ हैं—कुछ माताएँ हैं, जिनके पति और पुत्र लौटकर नहीं आये थे। उनका अस्तित्व आज पेन्शन के रुपयों पर टिका था। वह सब काफी दुःखदायी है। तो भी रोजाना गाँव में मुखिया के घर, आसपास के गाँवों के लोगों की भीड़ लगी रहती है। लोग चिंतित हैं। गाँव का जीवन कुछ थका-सा लगता है। हरएक की आँखें, एक दूसरे से मूक सवाल पूछतीं, कोई आपसी समझौता करना चाहती हैं। क्या बात है? इसका सही अनुमान कोई नहीं लगा पाता है। बड़ी-बड़ी रात तक पटवारी घर-घर जाकर खुशामद करता है। सब लोग भौंचक्के रह जाते हैं। आखिर वे क्या निर्णय दें। उनमें लोभ नहीं है हरएक सावधानी से बात तोलकर किसी तथ्य पर नहीं पहुँच पाता है। गाँव की नारियाँ भयभीत-सी लगती हैं। वे किसी से कुछ नहीं कहती हैं। वे अचरज में एक दूसरी का मुँह ताकती-ताकती रह जाती हैं। उनकी भीतरी खुशी हट रही है। वैसे सब ओर सारा काम व्यवस्थित चल रहा है। लड़कों को इस तमाशे से दिलचस्पी है। वे लोग आपस में तहसीलदार के पहनावे की आलोचना किया करते हैं। कोई तेज-सा लड़का कभी-कभी ऊँचे पत्थर की चट्टान पर बैठकर, तहसीलदार की नकल उतारता मिलेगा। उसे लड़के चारों ओर से घेरकर अंत में तालियाँ पीटेंगे।

कौशल्या का मन सिकुड़ता जा रहा है। इधर वह अनमनी रहने लगी है। इस भरती की बात को सुनकर वह अपने भीतर थिरक उठती

है। कभी-कभी दिल उचाट हो जाता है। उसका पति है। वह इस गाँव में उन्नीस साल से है। पति है, तीन लड़के और दो लड़कियाँ हैं। तब भी मन भारी है। वह अपने को हर तरह से समझती है कि उसकी गृहस्थी पूर्ण है। उसका दिलासा धोखा देता है। वह हार जाती है। उसका दिल बार-बार रोना चाहता है। भले ही वह सामर्थ्य बटोरकर अपने को कमजोर साबित नहीं होने देती, तो भी भीतर विद्रोह जाग उठा है। घर के काम-काज में जुटी रहती है कि अपने को भूल जावे। लेकिन अहसान बना हुआ दुःख छुटकारा नहीं देता। अभी-अभी उसका बड़ा लड़का आया और पुरुषवाले साहस के साथ भरे उत्साह में बोला, "मैं भरती हो गया हूँ।"

"क्या?" कौशल्या अचरज से बोली थी।

"मैं लाम पर जाऊँगा।"

"लड़ाई में?" कौशल्या ने सवाल किया था।

"हाँ, मुझे देर हो रही है। हमें कल तड़के ही रवाना होना पड़ेगा सब इन्तजाम ठीक करना है। अभी सारे काम पड़े हुए हैं।"

वह यह सुनाकर चला गया था और कौशल्या अवाक् चटाई पर बैठी-की-बैठी रह गई। वह अपने मन का कैसा लड़का है? किसी से पूछा नहीं। यह लड़ाई क्यों होती है? लेकिन इस सब से क्या? कितना ही कारण ढूँढ़ा जाय, वह भरती हुआ लड़का लौटाया नहीं जा सकता है। उसे रोकना नामुमकिन बात थी। वह जानकर कितनी अनजान बनी रहे। यदि वह उसका अधिक दुलार नहीं करती, तो यह हाल नहीं होता। जब कि उसे बचपन से नहीं ताड़ा था, आज किस मुँह से उसे धमकाकर अपने अधीन करती। यह असम्भव बात थी। कोई छुटकारा नहीं था। तब वह बैठकर ही क्या कर लेगी। वह बैठी ही रही। उठी नहीं। उसकी आँखें छलछलाई और टप-टप-टप कर चटाई पर आँसू गिरने लगे। वह रोक नहीं सकी। लाचार और परवश थी।

जीवन सुपना होता ठीक था। जग जाने पर आदमी अपनी हँसी उड़ाकर सन्तोष कर लेता। अथवा आदमी में पिछली बातें भूल जाने वाला ज्ञान होता तो यह उचित था। आदमी जीवन में चलता है। सरपट दौड़ता है। फिर स्मृति में घटनाएँ बसती जाती हैं। वह जमा-जमा होती हैं। यही इन्सान की कमजोरी है। वह यहीं पर झुँझला उठता है। यहीं पर से इन्सान के दिल की कहानी शुरू हो जाती है। यही भावुकता है। सब जानकर यह तृष्णा जीवन में तैरती रहेगी। कौशल्या अब ससुराल में है। लेकिन उसका एक मायका है। उस मायके में उसने एक अरसे तक बड़ा सुखद जीवन काटा है। तब इतनी झंझटें नहीं थीं। वह वहाँ उच्छृङ्खलता के साथ डोले-डोले फिरती थी। वह वहाँ स्वतन्त्र थी। वहाँ उसके आगे कड़े सामाजिक कानून नहीं थे। वह वहाँ खाली रहा करती थी। अपने ऊपर कोई भार नहीं था। वहाँ था उसका बीरू भाई! गाँव का एक आपसी रिश्ता होता है। वह जाति और श्रेणी से ऊपर आदमी-आदमी का नाता है। जीवन में वह चलता है। उसका यह बीरू भइया एकतारा बजाने में प्रवीण था। जब वह उसमें पहाड़ी गीत बजाता, तब वह झूम उठती थी। उन गीतों में जो प्राण था, बीरू उसे अलग सौंपने में उस्ताद था। वह हरएक आपसी खेल में उस लड़की को अपने साथ-साथ रखता था। कैसा ही बुरा जानवर हो, बीरू हँसते-हँसते पकड़ कर उसे खूँटे पर बाँध देता। पहाड़ की ऊँची चोटी पर वह गाता था :

तीमली को पात गेंदा—तीमली को पात,
बादूयों न बतलाये गेंदा—मौस्या माँ की घात;
तौली पाकी खीर गेंदा—तौली पाकी खीर,
तिन मरी जाण हे गेंदा—मिन होण फकीर द।

पति अपनी पत्नी गेंदा से कहता है कि तुझे सौतेली माँ की डाह लगी है, यह ज्योतिषियों ने बतलाया है। जब तू मर जायेगी, तो मैं

फकीर हो जाऊँगा।

गेंदा जवाब देती है :

झगुली झुमर स्वामी—झगुली झुमर द,
जोगि न होइन स्वामी, नौनियाली उमर छ।
चौलू भरयाँ खीसा स्वामी—चौलूँ भरयाँ खीसा द,
जौनपुरा न लाइन स्वामी, नौना मारी द।

पत्नी पति से कहती है कि अभी उनकी छोटी उम्र है। उसके मर जाने के बाद उनका फकीर बन जाना हितकर नहीं होगा। साथ ही साव-धान करती है कि वे ऐसी जगह से लड़की न लावें, जो उसके लड़के से डाह करे। वह अनुरोध करती है कि उसकी एक छोटी बहन है……!

बीरू के गीतों का कौशल्या पर बड़ा प्रभाव था। उसका उस पर पूर्ण गर्व केन्द्रित था। उसने उस लड़के को अनजाने खूब प्यार किया था। लेकिन एक दिन वह लड़का गाँव छोड़कर देश चला गया। पांच साल तक उसकी कोई खबर नहीं मिली। कौशल्या की शादी हुई। वह माँ बनी। तब अनायास एक दिन एक पारसल आया था। उसमें बीरू ने अपनी बहन कौशल्या के लिए समान भेजा था। साथ में एक सस्ता फोटो था, जिसमें कि वह सिपाही वाली वर्दी में खड़ा मिला। कौशल्या उसे पहले कहाँ पहचान पाई थी ?

दिन तो कटते-कटते चले गये। उस घटना के बाद दो साल और बीत गये। बीरू की स्मृति धुँधली पड़ गई थी। इस बीच दुनिया में क्या-क्या हुआ, इसका किसी को कुछ ज्ञान नहीं था। उस गाँव के जवान भी लड़ाई पर गये थे। लौटकर कोई नहीं आया था। उन लोगों के घरवालों को पटवारी, क्वीन मेरी का फोटो और पेन्शन का पट्टा सौंप कर भारी दिलासा दे गया था। उस बार कोई फ्रांस के मैदान में हुई मौतों का सही-सही अन्दाज नहीं लगा सका। वह नम्रता कैसी थी, किसी को कुछ ज्ञात नहीं हुआ। उन लोगों को तो इतना

ही मालूम था कि युद्ध हुआ। वह धार्मिक युद्ध था। जैसा कि उसकी नीति और गति से उनको कोई सरोकार न हो। उस गाँव में मौत की पीड़ा बहुत दिनों तक फैली रही, लेकिन मुँह आगे वाली मौत अधिक दिन तक हरी रहती है, पीठ पीछे वाली नहीं। रोजाना जीवन में वह विषाद छिप गया। सब बातें उसी तरह होती रहीं। मौत कब रुकावट डालती है। यह तो उसका धँधा ही है।

किन्तु एक दिन एक युवक लड़ाई खत्म होने पर लौट आया था। सुलह हो गई थी। वह सूबेदार होकर, पेन्शन पा रहा था। उसने युद्ध की यथार्थ घटनाओं का हाल सुनाया। गोला-बारूद, तोपें, सबमेरिन, बड़े-बड़े जहाज और न जाने क्या-क्या कहा। वह कई समुद्र पारवाले देश के भीतर की कहानी थी। वह उन जर्मनी वालों का हाल बयान करता था कि वे कैसे लोग थे। जब भाग जाते, अपनी खाइयों में सुंदर-सुंदर चीजें छोड़ देते थे। लेकिन वे चीजें कुछ नहीं, उनके भीतर बम होता था, जो कि छूते ही फूट जाता। आदमी के उठाते ही नष्ट हो जाता था। वे जर्मन वाले दानवों वाला खेल खेलते थे। उनकी जहरीली गैसों से हजारों आदमी क्षण भर में मर जाते। पेड़ों पर बैठी चिड़ियाँ पत्त-पत्त-पत्त कर भूमि पर गिर पड़ती थीं। कैसे वे गैसें बनाई जाती हैं? क्या खाइयों का ढाँचा होता है? किस तरह लाशों को कुचल-कुचलकर चलना पड़ता है। सड़ा-गला खाना मिलता है। वहाँ आदमी की कोई कीमत नहीं है। कहीं जरा हिचक नहीं……

"और वीरसिंह……!"

'वीरसिंह'! कौशल्या उस नाम को सुनकर चौकन्नी हो गई थी। वह शब्द जीवन के आगे खड़ा हुआ, रुकावट डालता लगा। वह फिर भी चुपचाप सुनती ही रही थी। वह कौन वीरसिंह था? उसका बीरू भइया तो नहीं।

सूबेदार कह रहा था—"वह था नायक! बस, अपनी टोली के

साथ दुश्मनों की टुकड़ी पर धावा बोल दिया। वह बहुत वीर और साहसी था। देश का गौरव रखकर घायल हुआ..........."

कौशल्या मन ही मन संदेह में गुनगुनाई थी—वह बीरू भइया तो नहीं थे! तब भी सब सुनती रही। उसे सुनना ही था। उस सूबेदार का कहना, "उसे अस्पताल पहुँचाया गया। उसकी हालत खराब थी।...........लोहे की चारपाई पर पट्टियों और दवा की महक के बीच बेहोश पड़ा रहता था। जरा होश आया, उत्तेजित हो उठता था......!

"जिन्दगी का कब कोई भरोसा है। वही उसका भी हुआ। एक दिन बेहोशी बढ़ी। आगे वह तीन-चार दिन तक चलती रही। आखिरी दिन वह कुछ होश में आया। पास खड़ी नर्स से पूछा—तू कौशल्या को जानती है?

"नर्स उसे देखती रह गई। भला वह उसकी भाषा कहाँ समझती थी। वह तो समझाते हुए कह रहा था—मैं तो उसे खूब पहचानता हूँ, और लोग भी जानते हैं। उसकी शादी हो गई है। वह न जाने वहाँ कैसे रहती होगी।

"जीवन के उस हल्ले से कोई कब छुटकारा पा जाय, आश्चर्य नहीं है। उसने अपनी आखिरी ख्वाहिश अपनी बहन को पेन्शन देने की की थी। बस, वह मर गया था।"

कौशल्या यह बात सुन लेने को तैयार न थी। फिर भी चुपचाप सब कुछ सुना। अचम्भित रह गई। कब उसे यह मालूम था कि उसका बीरू भइया दूर फ्रांस देश में गया है और अब वह नहीं लौटेगा। उसे उसकी मौत पर एकाएक विश्वास नहीं हुआ। सच ही एक दिन तहसीलदार ने आकर पेन्शन का पट्टा सौंपा था। उस दिन भर वह व्याकुल रही। उसे कुछ सूझा नहीं। अफसर की सान्त्वना भरी बातें उसके दिल पर घाव बनाती लगीं। वह बात साधारण-सी

थी। वास्तव में दुःख का इलाज ही कहाँ है? तब से ही कौशल्या ने आत्म-विश्वास छोड़ दिया। कभी पूजा नहीं की। देवी-देवताओं की ओर से उसकी श्रद्धा हट गई थी। वह बार-बार जानने को इच्छुक थी कि बीरू कैसे मरा होगा। वह क्यों मरा? उसकी मरने की उम्र कब थी। अब कौन एकतारा बजाकर उसे सुंदर गीत सुनावेगा। इन बातों का जवाब कोई नहीं दे सकता था। उसका मन उमड़-घुमड़कर रह जाता। वह अपने को कितना ही धीरज देना चाहती, पिछला घाव बहने लगता था। वह फिर भी गृहस्थी की अवज्ञा नहीं कर सकी। उसका पति है, बच्चे हैं और एक बीरू की यादगार भी है। सब तो पास थे, केवल बीरू जिसे वह खूब पहचानती थी, वह निपट खो गया। उसने उस बीरू को कितना प्यार किया था। वह सब कुछ अकारथ चला गया।

अब उसका लड़का कह रहा है कि वह लड़ाई पर जावेगा। यह कैसी बात है? भरती खुली है, तो क्या उसी के लिए? वह नाम लिखा कर क्यों चला आया? पति समझाता है कि उसे जाना चाहिए। आखिर आदमी का यही सही इम्तहान है? वह जा रहा है। यह उचित है। वह यदि मना करेगी, भला उसकी कौन सुनेगा? सब एक से ही हैं। कब बीरू ने ही उससे पूछा था। कभी सुझाया तक नहीं था कि वह लड़ाई पर जा सकता है। वहाँ आदमी को मौत का पूरा भरोसा रहता है। वह तब भी वहाँ गया था। कभी एक चिट्ठी तक नहीं भेजी। वही जैसे कि अपने बारे में सब कुछ जानता हो।

वह परेशान हो उठी। साँझ हो आई थी। उसका लड़का अपना सामान बाँध रहा था। वह बड़ी सुबह रवाना हो जावेगा। वह रसोई बनाती बार-बार चौंक उठती थी। कभी तो देखती की उस फैले सुफेद धुएँ के बीच कोई काली आकृति है। पहचानती कि वह बीरू है। पुकारना चाहती, किन्तु बीरू ओझल हो जाता था। वह

सन्न-सी रह जाती। क्या उसे वह बीरू धमका रहा था? क्या वह उसके बच्चे को माँगने आया है? यह कैसा न्याय होगा?

रात फैल गई। सब सो चुके थे। कौशल्या के मन में अकुलाहट फैलती चली गई। वह उठी। पति सो रहा था। उसने अपनी खाल की बनी पिटारी खोली। उसमें से पेन्शन का पट्टा निकाला। वही उसके भइया की एक मात्र यादगार थी। वह उत्तेजित हो उठी। मकान से बाहर निकली। चुपचाप अँधियारे में बाहर चली गई। आज वह अपनी देवी से पूछना चाहती थी कि वह क्यों इतनी रूठ गई है। मन्दिर में पहुँची। मूर्ति के आगे माथा टेक कर बैठी रही। बैठी ही।

सुबह से दुपहरिया हो आई थी। पुजारी ने देखा कि कोई औरत बेहोश पड़ी है। वह पहचान गया। पति को बुलाया। बड़ी देर के बाद कौशल्या होश में आई। पति को पहचानकर बोली, "वह चला गया?"

"हाँ।"

"तुमने रोका नहीं?"

"मेरा क्या अधिकार था?"

"तुम समझाते तो......!"

"मैं क्या कहता?"

"तुम सब धोखेबाज हो", कह कर वह फिर बेहोश हो गई।

आज कौशल्या सबसे कहती फिरती है—उसका लड़का फ्रांस की लड़ाई पर गया है। वहाँ मेमें रहती हैं!

जीवन का रहस्य

मूक बैठी लतिका के पास खड़ा हुआ किशोर उसे क्या समझाता? लतिका की सूनी और फीकी आँखों के आगे उसका पुरुष दिल पिघल रहा था। क्या वह कभी अपना हृदय इस नारी के आगे खोल कर कह सका था—मुझमें क्या है, तू भी पहचान ले। देख और जाँच ले। जिस भगवान के विश्वास पर तू समझती है कि सब सगे हैं, उसकी गवाही भी ले ले।

लतिका गुमसुम बैठी हुई थी। बड़ी देर तक जैसे कि रोती रही हो। और जरा कुछ कहा जाय तो फिर आँसू! वह उस सूने घर में दिन भर रहकर भला क्या सहारा पाती? अब विद्रोह सन्ध्या की धूप की भांति फैलता-फैलता उसे धोखा देकर भागता लगा।

किशोर ने देखा कि वह चुपचाप सिर झुकाये थी। मानो कि हथेली का सहारा मात्र ही उस भारी दुःख को थाम लेगा। अब उसे किसी की कुछ फिक्र न थी। वह दिन भर के बुने जाल में इतनी उलझ चुकी थी कि कुछ पास न लगता था। अब वह बिलकुल खाली और थकी थी। वह सफेद धुली साड़ी में छुपी मात्र कोमलता बाकी रह गई थी और सब तत्व तो दिन भर के खारी आँसुओं में धुल गये थे। आज उस कोमलता के समीप पहुँचते दिल डर क्यों जाता था?

धीमे किशोर बोला, "लतिका!"

लतिका बुत की तरह चुप बैठी रही।

किशोर चुप हो गया। उसका नाम बार-बार पुकार कर वह उसके नारीत्व को एकाएक नहीं जगावेगा। वह खुद अपने को समझ कर जाग क्यों न जाय? किन्तु अपनी असहायता में सोई नारी की नींद ने उसे अपने में जगह दे, फिर छुटकारा देना नहीं सीखा है।

किशोर ने फिर पुकारा, "लतिका !"

यह नाम कह कर आगे और क्या कहे, सूझ नहीं पड़ता था। क्या वह समझता ?

लतिका अब भी न जागी। वह निश्चिंत थी। यह पुकार उसके दिल के गड्ढों में पैठ कर प्रतिध्वनित न हुई। वह उस अथाह वेदना में रल गई।

अब किशोर अपनी असहायता में क्या करता ? वह मोढ़े पर बैठ गया। उसने कुछ देर के बाद मोढ़ा आगे सरकाया। लतिका आहट पाकर चौंकी। उसकी भरपूर खिली आँखें उठीं। किशोर की आँखों ने उन दो आँखों को फिर एक बार पाया। अब वे आँखें झुक गईं। कुछ सहारा पाकर, बात के पकड़ में आने की उम्मीद से वह बोला, "लतिका !"

लतिका की आँखें अलग हट जाने पर भी, उसने बिन्दु-बिन्दु में सीमित कुछ आँसू फर्श पर टपकते पाये।

अवाक् उसने दुहराया, "लतिका !"

हल्की सिसकियाँ—फिर गहरी ; आखिर आँसू का तीव्र प्रवाह। अब लतिका अपनी सारी लाज-शरम को हटाकर रो रही थी। अब यही सब किशोर को सौंपना बाकी रहा था।

किशोर ने कब लतिका को पहचाना था ! वह पिछले तीन साल में हल्की आहट की एक लीक खींचती हुई, जीवन से लग कर भी अलग-अलग ही रही। अब वह जरा पास आई थी। एक 'मार्फत' मिल जाने पर, हँस-खेल चुटकियाँ ले, मजाक कर लेती थी। भले ही किशोर में अपना कोई उत्साह बाकी न रहा था। वह फिर भी महसूस करता कि एकाएक अपने को अकेला नहीं मानेगा। उसे अपनी जिम्मेदारी का खयाल होता। अब तलिका को पास लगा लेने में कोई डर न लगता था।

बचपन में किशोर ने लतिका को कहीं देखा था। तब की इतनी याद बाकी थी कि वह छोटी बच्ची थी। एक रिश्तेदार के यहाँ आगे

मुलाकत हुई थी। वह लतिका को एकाएक पहचान नहीं सका था। जब लतिका ने उसके पाँव छू लेने चाहे, तो वह चौंक पड़ा। क्या कुछ कहता? आगे लतिका की कोई स्मृति पास नहीं रही। अपने झमेलों और मुसीबतों में इधर-उधर देखने का मौका न मिलता था। एक दिन लतिका जब बिलकुल निकट आ लगी, तब जैसे कि उसने एक अहसान लतिका पर किया। लतिका साथ-साथ पास रही, फिर भी वह लतिका से बाहर था। भले ही लतिका उसमें थी। दोनों चुपचाप चलते थे। किशोर को अपने ऑफिस के बाद थोड़ा सा वक्त लतिका के लिए बचता था। लतिका घर के काम-काज में अपने को मशीन की तरह जुटाये रहती थी। 'दैनन्दिनी' में लतिका को कभी-कभी किशोर से बातें कर व पूछ लेने का उत्साह बाकी था। लेकिन किशोर ने अपने को पहचान, खुद ही पढ़ लेने की ठान ली थी। लतिका को वह कम जवाब देता। एक सम्बन्ध मान व पाकर, वह उसे ज्यादा पास न रखना चाहता था।

किशोर के जीवन का एक लम्बा अरसा उस समाज में कटा था जो 'रोमांस' के अलावा 'सेंसेसन' पर टिका है। वास्तव की भीतरी ईमानदारी वहाँ नहीं बरती जाती। वहाँ का रोजाना काम घड़ी की टिक-टिक करते 'पैंडूलम' जैसे चलना था। वह 'सेंसेसन' हेड क्लॉर्क की मेज के चारों ओर एक घेरा बनाता कि आगे बढ़कर डस न ले; यह सन्देह अपने में उठता। जैसे कि वह बड़े और छोटे बाबुओं के बीच का जरिया हो। जो अपनी छाया से सारे दफ्तर को ढककर चैन से रहता है उस 'सेंसेसन' के कई 'अध्याय' हैं। वह महीनों की मौसमी हवा की तरह बदलते हैं। 'रोमांस' का बचाव अपने में जगह नहीं देगा। वह इंकर जीवन को चालू रखने के लिए ठीक लगता। चापलूसी, खुशामद और फरेब वहाँ के भारी हथियार थे। वह अपने को उनके बीच अनजान पाता। निपट अकेला वह देखता था कि सभ्यता के इस युग में सारी

बुराइयों के बीच वह अकेला इकाई है। उसे नौकरी के वातावरण अलावा, इधर-उधर झाँकने का मौका न मिलता था। जब वह ऑफिस में बैठा काम करता, तब ही देखता कि चाँदी की दहाई वाले 'ग्रेड' की वह नौकरी लेन-देन के व्यवहार में चाँदी की तरह जरूर चमकती है; पर भीतर थोथी है। वह बड़ी-बड़ी रात तक उस व्यवहार को समझना चाहता था, जो ऑफिस में बरता जाता। उस कानून को जो वहाँ चालू हैं। जिनके लिये वह कह नहीं सकता है। चुपचाप चलता है। कारण पैसा भारी जरूरत है। पैसे से आज की खरीददारी चलती है। बिना पैसे जैसे कि एक क्षण ठहरने को दुनिया में जगह नहीं मिलेगी। अफसरान की बातें जब दिल पर घाव करतीं, तब एक विद्रोह उठता था। वह घाव भी शरीर के बाहरी घाव की तरह मुलायम पड़कर एक दिन ठीक हो, दुखता नहीं था। वह चिन्ह न देख पड़ता। चिन्ह से घृणा उदित होती। फिर जैसे कि पैसे के उस 'ग्रेड' से छुटकारा पा, मुक्ति की प्राप्त राह पाने के लिए आत्महत्या आवश्यक हो।

टाइप की मशीन के आगे बैठकर दिन भर चुपचाप काम करना एक सनातन बात थी। जिसकी अवज्ञा और अवहेलना पर मजदूर के प्रति मालिक का अविश्वास बढ़ जाता था। उस अविश्वास में हृदय को कुचल कर आत्मा को ठुकराने की भारी शक्ति थी। अपनी असमर्थता में सब सह लेना पड़ता था। जैसे कि वह मनुष्य और मनुष्यता की लड़ाई का गुरु हो। कभी-कभी एक कोमलता दिल को छूती थी। जब छी-छी-छी में सोई आत्मा में एक श्रेय भूख उठकर उसे घेर लेती। ऐसी ही एक भावना में लतिका का सवाल किसी ने रख दिया। लतिका पास आई। वह गृहस्थ बन गया।

गम्भीर लतिका ने आकर देखा कि सारे घर की अजीब व्यवस्था थी। सोचा कि वह सब अपने आप सँवार लेगी। किशोर ने कहा था—तुम्हारी मदद जरूरी थी लतिका!

'मदद !'—लतिका के दिल में बात खेली।

'तुम ही न देख लो। भला मैं नौकर पर कब तक गृहस्थी चलाता।'

लतिका ने कोई जवाब नहीं दिया था। वह किशोर के जीवन का उत्साह फीका महसूस करती रही। वह जानती थी कि किशोर और उसके बीच कई अड़चनें हैं। वहीं वह जगह बनावेगी। लतिका अपने में किशोर को न समेट सकी, खुद उसमें रह गई। किशोर की बातों को दुहराने के अलावा, उसकी अपनी कोई राय न थी। उसकी धारणा, उसकी बातें और उसका तर्क सब किशोर के थे।

फिर भी गृहस्थ की उस सीमा में खुशी नहीं आई। रोज लतिका किशोर का फीका पड़ा चेहरा पाती। वह कुछ कह नहीं सकती थी। न वह जानती थी कि कैसे उसे सहारा दे। किशोर को पत्नी का उतना ही खयाल था, जो जरूरी लगता। इसके अलावा दुनिया भर की सारी परेशानियाँ साथ रहतीं। उस पत्नी ने आकर भी पति के जीवन में कोई रद्दोबदल नहीं किया। वह तो 'मशीन' में एक पुर्जा बन गयी—संचालन से दूर।

एक दिन वह रात्रि को बड़ी देरी से लौटा। आकर देखा, पत्नी इन्तजार करते-करते आखिर रसोई में पटड़े पर ऊँघते-ऊँघते सो गयी थी। जग कर आँखें मलते बोली, 'बड़ी देर लगाई।'

'देर' जैसे कि वह अब समझ सका हो। और इस देरी के प्रति किसी ने सावधान रहने की हिदायत की हो। आज तक इस देरी का खयाल करने का मौका न मिला था। सहज में उसने कहा, 'तुम सो गयी थीं।'

अपनी असावधानी सुधारने को लतिका ने सफाई दी, 'बड़ी देर तक इन्तजार किया। मैं तो डर गयी थी कि...।'

'डर'—किशोर ने मलिन हँसी हँसते हुए दुहराया, 'भला डर से हमें क्या काम। वह हमारे लिए नहीं है। इस बात का अभ्यास तुमको

डालना चाहिए। न जाने कब बड़ी-बड़ी रात आना पड़े।'

'अभ्यास!' लतिका के दिल को शब्द छू गया। पति के इस हुक्म को वह मान लेगी। फिर जैसे कि मन में उलझन उठी—अकेले अकेले वह कैसे रहा करे। पति की बेबसी पर चुप रह कर बात सँवारते कहा, 'अच्छा अब चलो भी खाना ठण्डा हो गया है।'

'मुझे भूख नहीं है। जरा दूध पी लूँगा।' थका हुआ किशोर बोला।

लतिका ने आँखें उठाकर पूछा, 'तबियत खराब है?'

'नहीं तो।'

'तबियत खराब थी तो इतनी रात तक काम क्यों करते रहे?'

किशोर कैसे समझाता कि मौत के बाद भी उसकी जगह खाली नहीं रहेगी! जरा तबीयत खराब होने की परवा किसी को नहीं। उसी दिन दो घण्टे छुट्टी माँग लेने को कहकर उसने दुनिया का सबसे बड़ा अपराध किया था। अन्यथा हेड क्लार्क यह न कहता, 'किशोर बाबू! इस तरह कै दिन काम चलेगा। साहब ने काम मांगा है। हम आपकी तरह तो बहाना नहीं बना सकते हैं।'

'बहाना'! बिच्छू के लगे डङ्क की तरह डस कर उसके सारे शरीर में जहर फैला गया। वह इस लाचारी और मजबूरी को लतिका के आगे कैसे रखता? वह चुप रहा।

'चलो, कुछ तो......।'

'तबियत नहीं करती। तुम तो बेकार झगड़ती हो।' वह झुँझला कर बोला।

लतिका चुपचाप ओट में सरक गई। जहाँ अँधियारे में आँखों में फैलता हुआ पानी किशोर न भाँप पाया। किशोर कमरे में लौटा। कपड़े उतार कर चारपायी पर लेटा-लेटा अखबार पढ़ने लगा। बड़ी देर तक पढ़ता रहा। जब दूर वाले घण्टाघर ने एक, दो, तीन कर

बारह बजाये तो उसने चौंक कर देखा, लतिका कमरे में नहीं थी। वह उठा, बाहर आया। देखा, लतिका रसोई की फर्श पर सोई हुई थी। उसने पुकारा, 'लतिका!'

लतिका उठी नहीं! उसने मन ही मन सोचा, इस लतिका के क्या अरमान नहीं रहे होंगे? आज अपनी सारी दया से वह चाहता था लतिका को ढक लेना। वह उसके प्रति किये बर्ताव की माफी माँग लेना चाहता था। आज उसने पहली बार भाँपा कि लतिका उतनी खिली नहीं लगती है, जितनी वह पहले थी। वह मुरझा गई है। इस लड़की ने उसका क्या बिगाड़ा है? जो वह अपने सारे गुस्से को उसे सौंप, निश्चित अलग रहना चाहता है। उसने पास जाकर अपनी भावुकता से लतिका का सिर हल्के हिलाते हुए कहा, 'उठो, यह क्या बात है!'

लतिका की नींद टूटी। वह चुपके उठी और एक ओर सिर झुकाए खड़ी हो गई। वह लाज से चुप रही। यह सोना ठीक नहीं था। वह परिस्थितियों में क्या करती? जब वह उसकी बात को अहसान गिनता है, तब लतिका अपनी उलझन में लाचार हो गई। वह सब कुछ समझना चाहती थी। थक कर नींद ने सारी बात सुलझा दी। वह व्यवस्था बन गई।

किशोर ने एक बार रसोई में चारों ओर नजर डाली। लतिका अब भी सिर झुकाये थी। उसने कहा, 'इतनी बात में गुस्सा हो गईं। खाना तक नहीं खाया!'

लतिका कैसे समझाती कि वह अकेले नहीं खा सकती है। उसके पास इसका जवाब नहीं था।

फिर किशोर बोला—'खाना खा लो। बड़ी रात गुजर गई। बारह बजा है।'

साहस कर लतिका ने कहा, 'और तुम……!'

किशोर बरसों से सीखी आदत में अपनी पिछली बात को ठीक समझ कह बैठा, 'कह दिया न, मुझे भूख नहीं है।' चुपचाप कमरे में चला आया।

कुछ देर के बाद लतिका कमरे में आई और मेज पर दूध का गिलास रख दिया।

किशोर ने पूछा—'खाना खा लिया ?'

लतिका मौन खड़ी रही कि खाली गिलास को ले ले। जवाब नहीं दिया।

किशोर कुछ सोचता रहा। सँभल कर बोला, 'खूब, तुम तो जरा सी बात पर नाराज हो गईं।'

लतिका अपनी नाराजी को पहचान गई थी। उसमें अब कुछ कह सकने की गुञ्जायश न थी।

किशोर ने फिर कहा 'बड़ी रात हो गई। कल मेहरी बरतन मांज लेगी। नल भी चला गया होगा !'

लतिका ने कुछ नहीं कहा। चुपके बाहर खिसक गयी।

किशोर को जरा नींद आई थी कि सुना, 'घिस, घिस, घिस !'

बाहर जाकर देखा, चुपचाप लतिका बरतन मांज रही थी। 'डिज' की लालटेन का मन्दा प्रकाश उस पर पड़ रहा था। वह निमग्न अपने काम पर मशगूल थी। किशोर कब उसके पास आ खड़ा हुआ वह न जान सकी। वह कुछ देर खड़ा ही रह गया। वह समझ लेना चाहता था कि लतिका किस तत्व की बनी हुई है। जिसे अपनी जरा भी परवा कर लेने की फ़ुरसत नहीं। वह सँभल कर बोला, 'कल क्या मेहरी बरतन नहीं माँज सकती थी ?'

तन्द्रा से चौंक, लतिका ने अपना आँचल सरकाया। अपनी इस अस्तव्यस्तता पर उसे भारी लाज लगी। कहा उसने धीमे स्वर में, मेहरी नहीं आती है। कल ऑफिस को देरी हो जाती। सुबह बड़ी

ठण्ड पड़ती है !' पति की नाराजी के बचाव में वह सब कह गयी।

आश्चर्य से किशोर ने पूछा, 'नहीं आती ?'

वह भारी आवाज दालान में खो गई। फिर वही—'घिस-घिस-घिस ?

अब किशोर सारी परिस्थिति समझ गया। ऑफिस में सही झिड़कियाँ इस नारी की कोमलता में छुप गईं। उसके दिल का एक भार हट गया। एक कोना सूना हुआ, जहाँ लतिका पसरती लगी। वह अपनत्व में बोला, 'खाना खा लिया ?'

'घिस-घिस-घिस !' बन्द, लतिका चुप।

कुछ देर बाद फिर, 'घिस-घिस-घिस !'

'नहीं खाया, कैसी हो तुम', वह लतिका की पीड़ा पहचान कर बोला।

'घिस-घिस-घिस' ! फिर बन्द। कोई जवाब नहीं।

'क्यों बुरा मान गई ?'

'घिस घिस-घिस', धीरे-धीरे बन्द। काफी देर तक बन्द। लतिका चुपचाप हाथ में माजने का कपड़ा उठाए का उठाए रही। दूसरे हाथ का बरतन जमीन पर ठन् से गिर पड़ा। उस सन्नाटे में वह आवाज गूँज उठी।

किशोर पास आया। कहा, 'चलो, पहले खाना खा लो। वह तो .... ।'

लतिका के हाथ पर से माँजने का कपड़ा छूट पड़ा।

किशोर ने लतिका का हाथ पकड़ कर कहा, 'चलो, उठो !' फिर बालटी से लोटे पर पानी भर बोला, 'हाथ धो लो।'

लतिका ने लोटा ले लिया। हाथ धोए, आँखों में भरे आँसू आँचल से पोंछ डाले। किशोर ने सब कुछ देखा और अपने व्यवहार के प्रति वह मन ही मन खिन्न हुआ। लतिका चुपचाप रसोई में सरक गई।

किशोर दरवाजे पर खड़ा हो गया। बाहर से बोला, 'भला इतनी बात पर कोई भूखा रह सकता है।'

लतिका अँधियारे में खड़ी थी। किशोर ने लालटेन लाकर रखते हुए कहा, 'अब क्या देर……?'

बात पूरी कह भी नहीं पाया था कि लतिका ने अपनी सूजी लाल आँखें उठा कर उसे देखा।

'पीछा थोड़े ही छोड़ोगी। अच्छा, क्या साग बना है?' हँस कर किशोर ने पूछा!

'आलू-मटर और टमाटर का।'

'यों कहो, नये साग की बानगी दिखानी थी।' वह मुसकराते हुए कहता रहा, पहले कह देती तो इतनी बात न बढ़ती। अच्छा एक रोटी खा लूँगा।

किशोर बैठ गया। लतिका ने में सब खाना सरोज कर, थाली आगे सरकाई।

'चार रोटी……!' किशोर गिन कर बोल बैठा।

लतिका ने किशोर को देखते कह दिया, 'रोटी गिनने की आदत अभी नहीं छूटी है।'

किशोर ने ही एक दिन लतिका से कहा था कि बोर्डिंग में रोटियों पर बाजी लगती थी और वह हमेशा हारता था। नौकर रोज शिकायत करता था कि बाबू पाँच रोटी से ज्यादा नहीं खाते हैं।

किशोर खाकर चुपचाप चारपाई पर लेट गया। कुछ देर के बाद लतिका उससे लगी गहरी नींद सो गई। किशोर को नींद न थी। नींद हड़ताल ठाने थी। पास लतिका की गहरी-गहरी साँस भारी सान्त्वना देती लगी। उसने लतिका के बालों में अपनी उंगलियाँ उलझा कर खेलना शुरू किया। आज उसे भारी उत्साह था। लतिका को पाने के लिए फिर कैसी भूख उठी है! वह अनजान बना जान लेना चाहता था।

अपने अनुभव में नारी कोमलता एक नया जीवन देती लगी।

फिर एक बार उसका खोया हुआ विद्रोह उठा। क्या वह अपनी इस पत्नी को कभी सहारा नहीं देगा। जो उसकी गृहस्थी को अकेले थामे हुए हैं। उसे याद आया कि उसी दिन दुपहरी को वह साहब के यहाँ जरूरी कागज लेकर गया था। बाहर बैठे चपरासी ने टोकते हुए कहा था कि साहब चाय पी रहे हैं। डाइनिंग रूम में उसने बच्चों की चुहल और प्यालों की आवाज सुनी थी।

और हाथ बढ़ता-बढ़ता लतिका के माथे पर पहुँचा। माथे से नाक की नुकीली जगह पार कर, कील पर अटक गया। उसने हलके लौंग छुई।

फिर साहब आफिस के कमरे में आये थे। मुँह पर चुरुट था। पास के कमरे में लड़कियाँ सिनेमा जाने को झगड़ रही थीं। वह चुपचाप खड़ा का खड़ा दस्तखत करा रहा था।

एकाएक बड़ी लड़की ने कमरे में आकर पूछा, "आप सिनेमा नहीं चलेंगे ?'

किशोर ने कागज उठा कर फाइल में रखते हुए दूसरी फाइल आगे सरका दी थी।

साहब बोले, 'मुझे फुर्सत नहीं, तुम लोग चली जाना।

किशोर की उँगलियाँ लतिका के गालों पर रुक गईं। आगे कान के पास पहुँच कर एक ओर पड़े बुन्दे को झुलाने लगीं। अपने में बात उठी, लतिका कभी ऐसे ही मुक्त थी और आज·········?

काफी देर के बाद वह साहब के घर से लौट रहा था। उसने बड़े लड़के को साइकिल पर टैनिस खेलने जाते देखा था। फाटक के पास पहुँचा था कि 'मेम साहिबा' मय लड़कियों के 'कार' में, उसे बहुत सा धूल सौंप कर, चली गयी थीं।

लटकन हाथ से छूट गया। हाथ एक ओर हटा। अब वह लतिका को छू कर क्या पा लेगा? उसने एक गहरी साँस ली। लगा कि

लतिका उसके जीवन में पसरती, निराशा बढ़ा रही हो। मन उचाट हो आया। मनुष्य की उस सभ्यता से अविश्वास हुआ, जहाँ लोगों ने श्रेणी बनाई है। वहाँ एक दूसरे का खयाल किसी को नहीं है। झोंपड़ों से महल का सम्बन्ध भी नहीं होता है। इस इतनी बड़ी दुनिया में आज कोई उसकी और लतिका की मखौल क्यों उड़ा रहा था? लतिका का खयाली भगवान और भाग्य उसका साथ कहाँ देता है? वह उसे ऐसे व्यक्ति को सौंप गया है जो उसे नहीं सम्हाल पाता है। लतिका उस भाग्य और भगवान को मानती है। रोज घण्टों उस भगवान पर विश्वास रख, पूजा कर थकती नहीं है। कहती, तुम नास्तिक हो। हम तो जो पुराने मानते आये वही ठीक समझते हैं।

इस तर्क का किशोर जवाब देता, 'तुम अपने देवता पर विश्वास करो। मैंने कब मना किया है।'

'देवता की!' लतिका बात न पकड़ अटक जाती।

उस भगवान ने अब के जाड़े में भी इतने रुपये न जुटने दिये कि लतिका एक गरम मोटी साड़ी लेकर जनवरी के जाड़े से बच सकती।

लतिका के भगवान की श्रद्धा के विपरीत वह नास्तिक था। उसे भगवान को मान लेने की फुर्सत नहीं थी। वह सोचता, जिसका भगवान कागजों, पैडों में छुप कर उसे नहीं मिलता! वह जिसका विधाता अफसरों की चापलूसी और खुशामद करने उसे अकेला छोड़ जाता है। वह जिसका भाग्य ऑर्डर और सिल्पों पर निर्भर रहता है, वह आखिर क्यों यह सब मान ले?

वह चौंक उठा। लतिका ने करवट बदली। लतिका का हाथ उसकी छाती पर आ पड़ा। उस हाथ को हटाने की सामर्थ्य चूक गयी। उसने हल्के उस मुलायम हाथ को अपनी हथेली से ढक लिया।

एकाएक लतिका की नींद टूटी। उसने अपना हाथ हटा लिया। किशोर समझ कर भी चुप रहा।

लतिका ने कहा, 'अभी सोए नहीं ?'

'क्या ?' किशोर ने पूछा ।

लतिका ने अपना हाथ किशोर के माथे पर रख कर कहा, 'तबीयत ज्यादा खराब है ।' रुक कर बोली—'मुझे नींद आ गई थी ।'

अब भी किशोर को न सूझा कि क्या कहे ? उसने चुपके लतिका का हाथ अपने में ले लिया । कुछ देर लतिका सावधान रही । फिर उसे नींद आ गयी । किशोर ने हाथ छोड़ दिया । उठ कर लतिका के बालों से 'क्लिप' एक-एक कर निकाल फैलाए, अँधियारे में फैले बालों के बीच छुपा मुँह खूब पहचाना । बड़ी देर उस घने अँधियारे में मुँह पढ़ता रहा । आखिर हल्के उसने लतिका के ओठों को चूम लिया और निश्चित सो गया ।

सुबह उसकी नींद टूटी । देखा, लतिका खड़ी थी । बाल पीछे फैले हुए थे । वह उनको तौलिए से पोंछ रही थी । उसे उठते देख कर बोली, 'चाय ले आऊँ ?'

'नहीं, कुछ देर में', किशोर ने कह दिया । मेज पर से सिगरेट उठा कर पूछा, 'दियासलाई कहाँ है ?'

लतिका बाल झाड़ते हुए बोली, 'कल लाए भी थे । बड़ी मुश्किल से ढूँढ़ कर आग जला पायी हूँ ।'

और किशोर ने सिगरेट बढ़ाते कहा, 'इसे सुलगा लो ।'

लतिका ने सिगरेट ले ली । एक बार सिगरेट को देखा और फिर किशोर को ।

किशोर बोला, 'कैंची के नोक वाली तरफ जलायी जाती है ।'

लतिका चुपचाप रसोई से जलता कोयला ले आई । सिगरेट सौंपती हुई बोली, लो अपनी सिगरेट ।'

'वाह, तुमको जलानी पड़ेगी ।'

'लो-लो !'

'हर्जा क्या है।'

'तुम भी।'

'और तू!'

लतिका 'ऐशट्रे' पर कोयला और सिगरेट सवाँरती जाने को थी, कि किशोर ने उठ कर उसके बाल पकड़ लिए।

'छोड़िए!' लतिका शर्मा कर बोली।

'और सिगरेट!'

'छोड़िए तो सही।'

'पहले सिगरेट।'

हारी लतिका ने सिगरेट उठा ली। उठाकर जलते अंगारे पर नोक रख कर अँगारे को फूँकने लगी।

'यह मदारी का तमाशा नहीं है।' किशोर हँसते हुए बोला, 'खूब! इतनी तमीज भी नहीं!'

लतिका ने देखा कि कुछ धुआँ उठ रहा था। सिगरेट का नोक काला पड़ता हुआ सुलगता लगा!

'इस तरह नहीं मुँह पर लगाकर, हवा ऊपर को खींचिए।'

लतिका ने 'ऐशट्रे' पर सिगरेट रख दी। जल्दी-जल्दी कहकर जाने लगी, आठ बज गये। आफिस भी तो जाना है।'

किशोर ने हाथ पकड़ते कहा, 'बहाना ठीक नहीं पहले...।'

लतिका ने अपना आखिरी शस्त्र छोड़ा, 'अभी पूजा नहीं की।'

अब किशोर के पास कोई बात न रह गई। उसने चुपचाप सिगरेट ली और फूँकने लगा। लतिका चली गई।

—किशोर साइकिल पर ऑफिस जाता हुआ सोच रहा था कि क्या मनुष्य का दिमाग ही सारे विद्रोह की जड़ है? अन्यथा पशु-पक्षी के लिए इतने नपे-तुले और कसे हुए कायदे-कानून नहीं। लतिका और वह पैसे पर टिके हैं। इधर-उधर नहीं जा सकते। दुनिया के इतने बड़े-बड़े मकानों

के बीच उनकी जगह क्यों नहीं ? क्यों वे बैंक एकाउन्ट नहीं रख सकते हैं । यह सब प्राप्त नहीं । तब भी उनको सारी दुनिया के बीच चलना जरूरी है । लगा, सारे उत्साह, खुशी, गर्मी और प्रेम पर 'पैसे' की ऐसी काई जम गई है, जो हटाए नहीं हट सकती है । वे दुनिया से बाहर नहीं । वही सब पर लागू है और रहेगा ।

वह सन्ध्या को घर लौटा । उसे लतिका दरवाजे की ओट में खड़ी मिली । वह उत्साह से बोली, 'आज सिनेमा चलेंगे ।'

'सिनेमा.........?' किशोर ने दुहराया, 'वहाँ अच्छी फिल्म नहीं है ।'

'है ।' कहकर लतिका ने मुट्ठी खोलकर 'हैन्डबिल' किशोर को सौंपा ।

किशोर ने हैन्डबिल पढ़कर फेंक दिया । चुपचाप अन्दर कपड़े बदलने लगा ।

लतिका बोली, 'खाना ले आवें ।'

उसने सिर हिलाया ।

खा-पी जल्दी कपड़े ठीक कर, वह बाहर जाने को था कि लतिका ने टोका, 'सिनेमा !'

'मैं भूल गया', किशोर ने बात सुधारते कहा । दिन को साहब ने कहा था, 'लड़कियों को कुछ साड़ी चाहिएँ । साँझ को ले आना ।'

लतिका मन मार कर चुप रही । किशोर सारी बात की अवहेलना कर चला गया था ।

लतिका ने अपने को भुलाने के लिये ऊन की पिंडी आलमारी से निकाली । चुपचाप बुनने लगी । वह अपने उत्साह को भी बुनती सलाइयों को सौंप देना चाहती थी । अकेले रहने का अभ्यास होने पर भी एक कमी महसूस हुई । मन बुझाव किया कि उसे अपने पति के अलावा कुछ नहीं चाहिए ।

जब किशोर बड़ी रात लौटा, तब वह तय कर चुकी थी, कहेगी—

मुझसे अकेला नहीं रहा जाता है। तुम कैसे हो। किसी की कुछ परवा नहीं करते। वह किशोर के आगे कुछ न बोल सकी। किशोर ने उसे कागज का लिफाफा सौंपा। लतिका ने देखा कि ऊनी साड़ी थी। खुशी से पुलक उठी।

किशोर बोला, 'पहिन तो ले'

लतिका ने तह कर लिफाफा सँभारते कहा, 'कल पहिन लूँगी। जल्दी क्या है?'

'अभी पहन लो।'

लतिका ने आलमारी में लिफाफा रख दिया।

'पहिनते शरम लग रही है?'

'कल को।'

किशोर उठा, लिफाफे से साड़ी निकालकर बोला, 'ले।'

लतिका ने साड़ी का एक छोर ले लिया। बाकी लापरवाही से फर्शपर फैला था। फैला ही रहा। लतिका साड़ी कैसे बदले यह समझ नहीं पड़ा।

किशोर लतिका को खड़े देख कर बोला—'जरा देर को!'

'नहीं, कल को।' लतिका साड़ी की तह करने लगी।

'अभी पहननी पड़ेगी। याद है, जिस दिन मेरा सूट आया था। तुमने आधी रात पहिनने को मजबूर किया था।'

निरुत्तर लतिका कैसे समझाती कि नारी हठ क्या है? पुरुष के लिए वह ठीक नहीं। अवज्ञा न कर सकी। चुपचाप दालान में बाहर जाकर बदल लाई।

किशोर ने लतिका को सिर से पाँव तक घूरते कहा, 'हूँ! तुम तो खूब भली लगती हो।'

'तुमको और कुछ काम नहीं।' हँस कर कहते हुए लतिका बाहर चली गई। कुछ देर के बाद लौटी और सलाई से चुपचाप 'पुल ओवर' बुनने लगी।

किशोर ने जीवन में टाइप की काली मशीन के आगे टिप-टिप-टिप कर एक लम्बा अरसा गँवाया था। आफिस के वातावरण की घृणा ने उसे निर्जीव बना दिया था। उस पालतू घृणा को लतिका ने आकर छुटकारा देना चाहा। उसने लतिका को पाकर सोचा कि वह अपने पर विश्वास करेगा।

वह एकाएक कुछ सोचकर बोला, 'लतिका!'

लतिका ने सीकें रोक, उसकी ओर देखा।

'तुम नाराज तो नहीं हो गई थी। हमारी जिन्दगी का इम्तहान क्या किसी सिनेमा के तमाशे से कम है?'

लतिका बात नहीं समझी। वह बोली, 'हमको एक कुत्ते का पिल्ला ले आना।'

'कुत्ते का।'

'अकेले जी नहीं लगता।'

'तब, एक अजायब-घर खोलने का इरादा है।'

'नहीं ले आना। कह दिया।'

किशोर दूसरे दिन एक पिल्ला ले आया था।

वह उस जानी पहचानी लतिका को आज क्या समझाता? उसके कितने आँसुओं को बटोर कर उसने अपने दिल को नहीं धोया था। आज यह लतिका का कैसा विद्रोह था? वह उससे क्या चाहती है। वह तो खुद असहाय है। वह निर्बल था। लतिका को क्या सहारा देता। अनमनी बैठी लतिका आज पहचान से दूर नहीं थी। जिस दिन लतिका माँ बनी, उस दिन दोनों ने समझा कि अब किशोर के पिता बनने की जिम्मेदारी के साथ, लतिका को अकेला नहीं रहना होगा।

गुड्डा सा बच्चा! माँ चाहती, वह उसे प्यार करेगी। पिता कहता—

वह भी अधिकारी है। पिता ऑफिस के शोर-गुल के बीच अक्सर बच्चे के रोने की आवाज सुनता था। लतिका को अब कोई शिकायत न थी।

एक दिन किशोर बड़ी रात आकर बोला, 'अब तो डर भाग गया।'

'चुप रहो, अभी-अभी वह सोया है'। धीमे लतिका मना करती बोली।

किशोर ने पलंग के पास जाकर बच्चे का मुँह चूम लेना चाहा, कि लतिका ने टोकते कहा, 'सोये बच्चे का……'

'यह दकियानूसी बात मैं नहीं मानता।'

लतिका हाथ जोड़कर बोली, 'ज्यादा शोर न मचाओ।'

मजाक में किशोर ने लतिका का हाथ पकड़ कर खींचना चाहा। 'हाँ हाँ हाँ' करती लतिका हाथ छुड़ाती पाँच गज पीछे हट गई।

किन्तु अनजान माता-पिता का वह बच्चा उनकी असावधानी से बीमार पड़ गया। काम करते-करते भी उसका मन बच्चे के पास रहता। अपने दुःख को वह किससे कहता। हेड क्लॉर्क बार-बार उसे धमकी देता कि साहब उसके काम से खुश नहीं हैं। एक दिन बच्चे की बीमारी में जब उसने कुछ देर की छुट्टी माँगीं, तब खरी-खोटी बातें सुन कर उसकी आत्मा को बड़ा आघात पहुँचा।

उधर माँ बच्चे की बीमारी में अपने को भूल गई। जो, जो कुछ राय देता, वही करती। दुनिया भर की राख, कवच-मन्त्रों से बच्चे की रक्षा करना चाहती थी। बच्चे को लेकर वह ऐसी लवलीन थी कि उसे पति की परवा न रही। बच्चे की हालत न सुधरी—नहीं सुधरी। किशोर का मन उचट गया। ऑफिस में दिल न लगता था। वह घबरा उठता। सोचता कि यहाँ एक दूसरे की बात का लिहाज नहीं। एक दूसरे को निगलने को तैयार रहता है। सब अपने को छुपाकर ऐसी

बनावटी बातें करते हैं कि डर लगता है। बच्चे की बीमारी की वजह से दो दिन की छुट्टी लेकर तीसरे दिन जब ऑफिस पहुँचा, तो देखा हेड क्लॉर्क की आँखें उसे निगलने को तुली थीं।

हेड क्लार्क ने उसे अपनी मेज के पास बुलाकर पूछा, 'आपका नौकरी करने का इरादा नहीं है।'

किशोर चुप।

'यह दफ्तर है, यतीमखाना नहीं।'

किशोर क्या जवाब देता!

'आपको मालूम था कि बजट का जाना जरूरी है। फिर भी क्या यह बहाना ठीक था? मनमानी छुट्टी......!'

किशोर चुपचाप सिर झुका कर काम करता रहा। अपने जीवन की निम्नता में वह इधर-उधर कैसे आँखें उठाता। नील का वह दाग नहीं धुल सकता था।

बड़ी रात बीत जाने पर किशोर घर पहुँचा। दरवाजा खुला पाया। अन्दर पहुँचा। देखा, लतिका फर्श पर एक ओर चुपचाप सोई थी और बच्चा पलंग पर।

उसने पुकारा, 'लतिका!'

लतिका की नींद नहीं टूटी।

फिर उसने पुकारा, 'लतिका!'

लतिका नहीं उठी।

वह चुपचाप कुछ देर खड़ा का खड़ा ही रह गया। पलंग के नजदीक जाकर देखा, बच्चा ठिठुरा पड़ा था। नजर गड़ी लतिका पर। आँखों में आँसू भर आए। उनको पोंछ कर लतिका के पास बैठ गया। लतिका का सिर अपनी गोदी में ले, उसके चेहरे को देखा। कुछ देर बाद लतिका ने आँखें खोलीं। अपने को सँभाला। एक ओर हटी।

किशोर क्या कहता? इस परिस्थिति से वह अनभिज्ञ था। वह अवाक्

लतिका की ओर देखता रह गया। वह चुपचाप सिर झुकाये रही।

वह बोला—'लतिका, तुम्हारे भगवान ने उसे छीन लिया!'

लतिका के दिल का रुका दुःख फूट निकला। वह फूट-फूट कर रोने लगी। अब किशोर घबड़ा उठा। कब तक लतिका रोती रहेगी। वह क्या सुझायेगा?

लतिका के आँसुओं को क्या फर्श धोना बदा था कि वह एक भारी तिरस्कार, मनुष्यता के बीच अपनाने तुली। दुनिया के इस भारी दुःख की अवहेलना किशोर न सह सका। बोला—'यही था होना।'

गहरी-गहरी सुबकियाँ, फिर और गहरी। एकाएक लतिका ने फिर से रोना शुरू किया। गोदी के घाव से पानी टपकने लगा।

किशोर ने और पास सरक लतिका की ठोढ़ी उठा, उसके आँचल से आँखों को पोंछते कहा, 'अब रोकर.........'

सिसकती लतिका अपने को सौंपे रही। उसे अब ज्यादा लाज-शरम न लगी!

उस रात्रि जब बच्चे को जमीन की मुलायम गदेली पर सुला कर किशोर घर लौटा, तब आकर उसने देखा कि लतिका चिन्ता-मग्न कुरसी पर बैठी हुई, गहरे विचार में डूबी थी। उसकी आहट पाकर भी वह चौंकी नहीं। गिरा आँचल पड़ा का पड़ा रह गया। बच्चा उसके जीवन को छीन कर ले गया था। वह जड़वत् थी।

—और आज ऑफिस से लौट कर किशोर ने पाया कि फिर लतिका को नारी कमजोरियाँ घेरे थीं। वह उन आँसुओं को कैसे सुलझाता? कैसे समझाता कि उसकी पिछली दो दिन की छुट्टी, व हेडक्लॉर्क की नाराजी की वजह से उसे साहब ने नौकरी से अलग कर दिया है। अब वह मुक्त है। वह अब क्या करेगा? अभी तक हेड क्लॉर्क के शब्द कानों में गूँज रहे थे—मजदूरी हम देते हैं। आपका दिमाग बहुत चढ़ गया था।

पन्द्रह-पन्द्रह रुपये में 'ग्रेजुएट' मिल सकते हैं।

यह बी० ए० पास कर किशोर ने एक भारी अपराध जैसे किया था कि उसे उस समाज में उपेक्षित होना पड़ा।

लतिका के आँसू सूख गये थे। वह थक गई थी। अब उठ खड़ी हुई।

किशोर बोला, 'लतिका!'

लतिका चुप रही। सब कुछ सुनने को तैयार थी।

किशोर ने फिर कहा, 'तुम कल मायके चली जाओ।'

लतिका ने कुछ न समझ कर किशोर की ओर देखा।

'नौकरी छूट गई। यहाँ लोग सही और गलत आदमी की पहचान नहीं जानते। तुमको वहाँ जाना ही होगा।'

लतिका अवाक् खड़ी रही। फिर किशोर बोला, 'कभी तुम्हारा भगवान! शायद……'

और वह बात पूरी किए बिना ही सिगरेट फूँकने लगा। वह अब कब तक फिक्रों व तवालतों में पड़े।

लतिका ने पास आकर धीमे से कहा—'क्या कहा तुमने?'

'नौकरी छूट गई।'

'छूट गई……?'

'तुम मायके चली जाओ,' कह सिगरेट का बहुत सा धुआँ मुँह में भर लिया। फिर धीरे-धीरे बाहर की ओर फूँका। वह साबित कर देना चाहता था कि वह निश्चिन्त है।

लतिका ने पास आ किशोर का हाथ अपने में ले अपनी आँखें ज़रा उठाते पूछा, 'और तुम……?'

किशोर ने फिर बहुत सा धुआँ मुँह में भर कर बाहर फूँका।

यदि मैं जानती......

शादी के बाद माया को अपने जीवन में पग-पग पर रुकावट मालूम पड़ने लगी। विश्वविद्यालय में जिस स्वतंता से वह अपनी सहेलियों के साथ रहती थी, वह जैसे आज किसी ने बरबस छीन ली। पति अच्छे ओहदे पर हैं। बँगला है, मोटर है और आधुनिक वैज्ञानिक सुख के सब साधन प्राप्त हैं। फिर भी एक बेकार की जिम्मेदारी उसे सौंप दी गई है। वह घर की मालकिन है। उसे देख-भाल करनी चाहिए। लेकिन वह तो चाहती है कि बन्धन तोड़ दे। उसके पति ने कुछ भाँवरों द्वारा एक सामाजिक अधिकार पा लिया है। जिस विवाह को वह एक साधारण समझौता समझती थी, वह इतना कठिन होगा, उसे इसका अनुमान नहीं था। अन्यथा वह विवाह ही नहीं करती। तब कौन उसे बाँध सकता था? पति तो जहाँ चाहें चले जायँ। वे अपने मन की करेंगे। उनके लिए दुनिया और समाज में सब रास्ते खुले हुए हैं। कारण कि वे पुरुष हैं और माया केवल एक नारी है। जिसका नारीत्व एक धोखा है। उसे घर-गृहस्थी की कुंजी सौंपकर पति अब खुद उस भार से बरी हो गये हैं। यह उनका कैसा न्याय है? यदि वह उस पर दलील करना चाहती है तो पति मुस्करा देते हैं और कोई ठीक जवाब न देकर, बाहर गोल कमरे में यार-दोस्तों के साथ फिजूल बातों में वक्त गँवाने के आदी बन गये हैं।

माया सोचती है, कितने सुन्दर, सुनहले और मधुर थे वे दिन, जब कि युवक उसको नजर चुराकर देखते-देखते थकते नहीं थे। विश्व-विद्यालय की हर एक पार्टी में वह शरीक होती थी। उसके बारे में रोज कोई न कोई बातें सुनाई पड़ती थीं। युवक उससे परिचय पाने के

लिए उत्सुक रहते थे। उसकी प्रेम-भिक्षा पाने का आसरा ताकते-ताकते थकते नहीं थे। वह उस प्रेम के अज्ञात पहलू के प्रति न जाने क्यों उदासीन रहती थी। वह उस सबको एक धोखा मान कर कुछ सोचती तक न थी। वह जीवन—अब एक सपना था; एक गलत नींव पर खड़ा था। अब वह जीवन-घटना साधारण याद-सी मालूम होती थी। जिनमें आशा न थी, और जो अब धुँधली पड़ गई थी। वह पुरानी भावना आज की निराशा में घुल चुकी थी। तब एक जीवन था। वह उसे महसूस करती थी। उसका अपनत्व था। तब वह पूर्ण माया थी—एक कुमारी, जिसका एक भविष्य था। उस भविष्य के सम्बन्ध में वह भले ही कुछ न सोचती, उसकी सब सहेलियाँ ईर्ष्या करती थीं कि माया असाधारण लड़की है। वह कभी एक दिन……।

लेकिन माया आज पत्नी है। उसका सामाजिक मूल्य गृहस्थी में रह कर, पुरुष की वासना की कसौटी बनना है। वह प्रकृति है, जिसे आगे के लिए पुरुष की सन्तान को जनना है। वह एक गृहिणी है। अब वह माया ही नहीं, पति की पत्नी भी है। पति पर उसका जीवन टिका है। उसी के सहारे उसे आजीवन रहना पड़ेगा। तभी माया का दिल विद्रोह करता है। वह अपना मन रोक नहीं सकती। अपनी भावुकता और भावना में बह जाती है। कुछ नहीं होगा, फूट-फूट कर रोयेगी। खूब रोयेगी। यही जैसे कि उसका बल हो। वह छिप कर रोती है। एक डर लगा रहता है कि पति कहीं देख न लें। वह अपनी नारी कमजोरी को सब से छिपाना चाहती है। सब से—सब से! कारण कि हर एक ने उसके साथ विश्वासघात किया। माँ ने, पिता ने और उसके रिश्तेदारों ने! उन सब ने चाहा कि उसे एक दिन दुलहिन बना कर बिदा कर दें। तब वह नासमझ थी। आज की बात होती, तो वह सब शर्तें पति को सुना कर, अपना विवाह करती। ताकि उसे यह सब नहीं देखना पड़ता।

अपने उस विद्रोह को चूर-चूर करने के लिए माया ने एक उपाय ढूँढ़ ही लिया। अब वह क्लब चली जाती है। इसके लिए उसने पति की आज्ञा नहीं पूछी। शहर की कुछ आजादी-प्रिय युवतियों ने एक क्लब खोला है। वहाँ वे अपना शासन रखती हैं। पुरुष के लिए वहाँ मनाही नहीं—यदि वह उस अनुशासन को स्वीकार कर ले। वहाँ माया देखती है कि और सब युवक तो पति से भिन्न हैं। वे सब नारी-अनुभूति पहचान कर नारी का आदर करते हैं। उसे उनके बीच रहने में जीवन सरल लगता है। उसका दिल एक कुतूहल से भर जाता है। घर में तो एक पीड़ा मन में घोंसला बनाकर कसक पैदा करती रहती है। वहाँ कोई चुपचाप दिल का ताला तोड़, उस पीड़ा को सहलाता है। कितना सरल लगता है वह व्यक्तित्व! वह अपने को भूल जाती है। वह अपने को सँभाल नहीं सकती है। चाहती है कि यहीं क्लब में रहा करे। वह घर न जावेगी। उसे वह जीवन सुखद लगता है। घर तो वीरान है। जहाँ एक गृहस्थी के जाले के भीतर, वह मकड़ी की तरह चुपचाप बैठी रहती है।

उस दिन वह ब्रिज खेल रही थी। उसका साथी बार-बार कोशिश करता, पर माया की असावधानी से हार जाता था। वह उस व्यक्तित्व को पहचान गयी थी। यह पहला ही अवसर था कि वह उसका साथी बना था। वह न जाने कब से उसे मूक बनी देखा करती थी। उसे उसका व्यवहार भला लगता था। उसकी बातों में लोच था, सरलता थी और एक मोहनी थी। आज अनायास उसके दिल में एक सवाल उठा कि इस समाज में गलत नींव पर कितने गृहस्थों का निर्माण होता है। वह तो···! तब वे कितने सुख से रहते। उस युवक में कितना जीवन नहीं था। एक उसके पति हैं। वह क्या तुलना कर रही थी। वह भाग्य पर विश्वास कर चुपचाप पड़ी रहना क्यों नहीं सीख लेती? पुरुष ने यही एक खिलौना मन बहलाने के लिए नारी को सौंपा है कि वह चुप

रहे। चुप रह कर, जीवन की व्याख्या करने पर उतारू न हो।

वह युवक बोला, "मिसेज दास आप तो!"

"सारी!" कहकर वह सावधान हो पूछ बैठी, "डील किसकी होगी?"

वह युवक हलके मुस्कराया। कुछ बोला नहीं। वह कुछ उलझन में कार्ड बाँटने पर तुल गयी। यदि उसके पास बैठी युवती ने ताश ले कर उसे न उबारा होता, तो वह 'नरवस' हो जाती।

उसके हृदय में सोया नारीत्व जाग उठा। उसने सोचा कि वह बड़ी अभागिनी है। सारी बातों पर विचार करने पर तय पाया कि वह पति को प्यार नहीं करती। वह पत्नी जरूर है। वह अपना यह दर्जा नहीं भूल सकेगी। फिर भी पति से ऊपर उठा एक और पुरुष है। जिसे वह चाहती है। जो उसका स्वामी होने के योग्य था। वह अपनी लाचारी में उसे प्यार तो कर सकती है पर समाज ...!

सात बज गये। खेल समाप्त हो चुका था। माया बैठी रही। वह न जाने क्यों बैठे-बैठे बिलकुल खाली और निर्जीव सी हो गई। तभी उस युवक ने पुकारा, "मिसेज दास!"

माया ने आँखें खोलीं। वह युवक चुपचाप खड़ा था। वह उसी तरह बैठी रही।

वह बोला, "चलिए, आपको घर छोड़ दूँगा। आप तो बहुत सुस्त और उदास मालूम पड़ रही हैं। आपकी तबीयत ठीक नहीं।"

माया उसके अनुरोध से पिघल गई। वह उसके आगे अपनी सब बातें कह देना चाहती थी। फिर भी चुप रही। कुछ नहीं कहा।

"चलिए......!" फिर वह युवक बोला।

अब माया उठी, कहा ही, "थैंक्स...। मैं तांगे से चली जाऊँगी।" सीढ़ियों से जल्दी-जल्दी उतर कर बाहर खड़े तांगे पर बैठ कर घर

की ओर रवाना हो गयी। उसका मन अस्वस्थ था। एक बेचैनी बार-बार उठती थी। बेकली बीच-बीच में घेर लेती थी। वह सोचती कि आखिर इस तरह क्यों चली आयी है। यह उसने क्या कर डाला? वह न जाने क्या सोचते होंगे। यह बर्ताव! घर पहुँची। पति अभी लौट कर नहीं आये थे। वह चुपचाप ऊपर कमरे में जाकर, पलँग पर लेट गयी। वैसे ही नींद आ गयी।

किसी ने उसे जगाया। देखा पति खड़े थे। वह उठ कर एक झरोखे में बाहर निकल गयी। कपड़े बदल लिये और आकर पलँग पर लेट गई। उसका सिर दुख रहा था। तबीअत गिर रही थी। वह लेट गयी—लेटी रही। फिर भी नींद नहीं आयी। एक बार उस युवक की मुस्कान सम्मुख आती। वह एक प्रतिध्वनि-सी सुनती, 'मिसेज दास क्या आप मुझसे नाखुश हैं?'

वह और नाखुश! वह कहाँ की बड़ी है। वह तो बावली है। वह सब उसका पागलपन था। सच तो यह बात है कि एक सामाजिक डर ने उसे बहकाया। वह परपुरुष का एहसान स्वीकार नहीं कर सकती थी। वह बहुत कमजोर पड़ गई थी और डर था कि उसके आगे कहीं उसकी कोमलता चटक न जावे?

पति की समझ में कुछ बात नहीं आई। माया गुंडी मुंडी बनी पलँग पर लेटी हुई थी। नौकर आया, बोला, "डाइनिंग रूम में खाना लगा दूँ।"

पति बोले, "चलो माया।"

माया नहीं उठी। पति ने सावधान होकर नौकर से खाना लाने को कहा।

किन्तु माया ने बीच में ही बात काट दी, "मैं नहीं खाऊँगी, आप खा लें।"

पति जरा चौंके। पास आकर कहा, "मैं तो पहले ही कहता

था। क्लब में बड़ी रात तक खेलना ठीक नहीं है, ठंड लग गई होगी। फिर तुम ताँगे में चली आयी। मैं वक्त पर, 'कार' लेकर पहुँचा तो सुना कि तुम चली गयी हो।"

"वक्त पर!" माया तुनक कर बोली, "उफ, मैं तो इन्तजार करते करते थक गयी थी। लाचार ताँगा लेना पड़ा। आपको तो अपनी पार्टियों से फ़ुरसत नहीं रहती। मर भी जाऊँ तो......!"

"माया!" पति बोले। उनको क्या मालूम था कि आज माया हर तरह तैयार थी।

माया ने कोई जवाब नहीं दिया।

पति ने फिर कहा, "आज कितने 'रबर' खेले हैं। हारी हो या जीती?"

माया किसी तरह समझौता करने को तैयार नहीं थी। आज वह जान गई थी कि उसमें पुरुष को चीर-फाड़ डालने की क्षमता है। वह सबल है। पति उसका निरादर करते हैं, तो वह अब आजीवन दासी की हैसियत से नहीं रहेगी। वह सब कुछ नहीं सह सकती है। वह अब जानती है कि उसका आदर करने वाला एक पुरुष है। वह हर तरह माया की परवा कर सकता है। यदि कल माया उसके द्वार पर खड़ी हो जावेगी, तो वह अपने में जगह देते हिचकेंगे नहीं। तब माया किसी की खास परवा नहीं करेगी। वह पुरुष के व्यवहार को पहचान गई है!

और फिर नौकर कमरे में आ ही रहा था कि पति बोले, "तुम्हारी तबीअत ठीक नहीं है तो दूध पी लेना। कल सुबह फोन से डाक्टर बोस को बुलवाना होगा। अब आराम करो।" बस चुपचाप ड्राइनिंग रूम की ओर बढ़ गये।

कुछ देर के बाद माया ने डाइनिंग रूम से छुरी-काँटों की आवाज सुनी। सोचा, पुरुष कितने स्वार्थी होते हैं। उसे रोगिणी साबित कर

पति चले गये। यह उनका कैसा उलाहना था? क्या यही पति का कर्तव्य है? क्या वे इसी के बल पर उसे पत्नी कहकर पुकारते हैं? वह भोली है। अन्यथा पति उसे ठग नहीं सकता। अब आगे वह खुद ही अपना भविष्य बना लेगी। जैसे कि किसी एक आधार के सहारे चलना मुमकिन नहीं। वह क्यों बेकार पति के समीप आकर, अपने को खोले। वह सब चुपचाप देखेगी। यह उसका अपना सही न्याय होगा।

पति लौट आये। आकर उसके सिरहाने खड़े हुए। वह आँखें मूँदे सोने का ढोंग रचे रही। पति ने माथे पर हाथ लगाया। वह अपने भीतर काँप उठी। सोचा कि यह क्या हो रहा है। फिर उसी तरह पड़ी रही। वह पति से अधिक बातें नहीं कहना चाहती थी। पति चुपचाप बड़ी देर तक किताब पढ़ते रहे। एक बार उन्होंने पत्नी की झुँझलाहट सुनी। वह नौकर का लाया दूध पीना अस्वीकार कर, सो गई थी। पति फिर पढ़ने लगे और बड़ी देर तक पढ़ने के बाद सो गये।

लेकिन भला माया को नींद आती! नींद नहीं आयी। वह असमंजस में बार-बार उठना चाहती थी। पर रात का काला-काला वातावरण! जो कि चारों ओर फैला हुआ था, वहीं उसका पति सोया हुआ है। वही अकेली जाग रही है। वह पति की साँसों की प्रतिध्वनि सुनती थी। माया जाग रही थी। एक अबूझ निश्चय उसके जीवन में प्रवेश कर चुका था। वह खुद नहीं समझ पाई कि होनहार क्या है?

वह अगले दिन देर से उठी। उठते ही नौकर ने एक कार्ड लाकर दिया। वह भौंचकी रह गयी। वह क्यों आया है? अब वह क्या करे? उफ! उसने जल्दी उठ कर, अपने कपड़े सँभाले और ड्राइंग रूम की ओर बढ़ गई। वहाँ पहुँची ही थी कि वह नमस्ते कर के बोला, "अब आपकी तबीअत कैसी है?"

"मेरी?"

"आप कल साँझ बहुत उदास लग रही थीं। खेलते-खेलते मैंने यही अनुमान किया था। मुझे तो डर था......।"

"कि रात को मैं मर तो नहीं गयी हूँ। इस तरह जीवित देख कर आश्चर्य हुआ होगा।" माया मुस्कराई।

वह युवक चुप रहा। इस बात का जवाब नहीं दिया। वह अपने में ही सिकुड़ रहा था कि वह इस तरह क्यों चला आया? माया क्या कहे? एक उत्साह ने चुपके उसके जीवन में प्रवेश किया है। वह तो पहली ही मुस्कराहट में चूक गया। वह फिर वैसी ही बिलकुल खाली-खाली हो गई।

नौकर कमरे में आकर बोला, "साहब, चाय पर बुला रहे हैं।"

"चलो," एकाएक माया के मुँह से छूटा। फिर वह सहम गई। बिना पति की आज्ञा के उसका यह कैसा संचालन होगा? क्या यह सही और ठीक बात थी? वह अपने भीतर अधिक गुनगुनाई, नहीं। उठी, और दोनों डाइनिंग-रूम में चले गये।

पति ने उनका पूर्ण स्वागत किया। माया चाय उड़ेल रही थी कि पति ने कहा, "मैंने सुबह डाक्टर को फोन किया था, वे अभी-अभी आते होंगे। इधर तुम्हारी सेहत भली नहीं लगती।"

पत्नी चाय उड़ेलती रही। फिर चुपचाप चाय पीने लगी। वह यह जान गई थी कि उसकी फिक्र करने वाले भी दुनिया में हैं। उस वातावरण में सब की चुप्पी अखरने लगी! फिर कोई बोला नहीं। चाय समाप्त हो गई।

पति चुपचाप सुबह का अखबार पढ़ने लगे। पत्नी ड्राइंग-रूम में चली आई और वहाँ की चीजों पर आलोचना शुरू हो गई। कौन चीज कहाँ खरीदी गई थी। इस ड्राइंग-रूम को सजाने में उसने कितनी मेहनत की है। आज वह बच्चों की तरह सब बातें सुना रही थी।

उसके साथी ने एकाएक अपनी घड़ी देखकर कहा, "मुझे एक

जरूरी जलसे में शरीक होना है।"

माया अपने पर झुँझला कर कह बैठी, "तब संध्या तक के लिए बिदा। क्लब में आज कुछ जल्दी चली जाऊँगी।"

लेकिन उसका साथी बोला, "क्लब, आप माफ करेंगी। मैं तो सिनेमा का प्रोग्राम तय कर चुका हूँ।"

"सिनेमा ?"

"आप चलेंगी न ?"

"हाँ चलूँगी।" कहकर माया मुरझा गई। वह कितनी भावुक है। इतनी जल्दी उस व्यक्ति पर विश्वास कर, क्यों उसे परिचित-सा साबित करना चाहती है ?

उसका साथी चला गया। माया ने दिन भर हर तरह श्रृंगार किया। आज वह चाह रही थी की सारी दुनिया का आकर्षण अपने में समा ले। वह बहुत खुश थी। उसका मन हरा हो आया। उसमें नई उमंग और उत्साह था। वह समझ गई कि कम से कम उसे एक व्यक्ति ऐसा मिल गया है, जो उसका मूल्य पहचानता है। वह माया को सुखी देखने के लिए सब कुछ निछावर कर सकता है।

सांझ को बाहर 'कार' का हार्न सुन कर माया चौंकी। वह तैयार ही बैठी थी। वह एक-एक मिनट इन्तजार करते-करते थक गई थी। अब जाकर वह आया है। वह बाहर जा रही थी कि पति ने टोका, "कहाँ जा रही हो माया ?"

"सिनेमा।"

"सिनेमा ! लेकिन हमें आज मिस्टर गुप्ता की लड़की की शादी में जाना है। तुम्हें तो याद होगा ही! परसों वे स्वयं आकर कह गये थे।"

"आप वहाँ चले जाइएगा। मैं सिनेमा जा रही हूँ।"

पति चुप रह गये। माया चली गयी।

पन्द्रह दिन गुजर गये। अब माया बहुत खुश है। आज तक उसे जीवन में जो कमी लगती थी अब वह हट गई। वह जहाँ चाहे जा सकती है। पति रुकावट नहीं डालते हैं। पति का वही पुराना व्यवहार है। उसी तरह सवाल पूछते हैं। कहीं कोई अन्तर नहीं है।

एक दिन माया क्लब से लौट कर आई और ड्राइंग-रूम में बैठकर सुस्ताने लगी कि एकाएक उसकी आँखें ऐश-ट्रे पर पड़ीं। उसमें एक अधजली सिगरेट रक्खी हुई थी। उसने देखा कि उसके बिना जले किनारे पर रंग लगा हुआ था। माया ने उसे उठाकर देखा और सन्न रह गई। फिर उसने पास ही धरे डिब्बे से पूरी सिगरेट निकाली और अपने होंठों से लगा ली। उसे बाहर निकाल कर देखा तो वही रंग! तब जरूर वहाँ कोई रमणी आया करती है। वह लिपस्टिक का रंग था। माया के आगे एक तसवीर आई। वह जिस घर में आज तक अकेली ही रहती थी, उसमें अब किसी अपरिचित नारी ने अपनी जगह बना ली है। वह पति के व्यवहार की विवेचना करने लगी। तभी वे इतने चुपचाप रहते हैं। उसके दिल में नारी डाह उदय हुई। वह एक बार काँप उठी।

फिर अगले दिन माया ने देखा कि ऐश-ट्रे में वैसी ही-सिगरेट की जली टुकड़ियाँ पड़ी हैं। उसे विश्वास हो गया कि अब उसका घर नहीं है। पति बिराने हो गये। अब तो पति उससे बोलते भी कम थे। अक्सर बड़ी रात गये लौटते। वह सारा रहस्य समझ गई। उसका क्लब जाने का उत्साह फीका पड़ गया। उसने अपने उच्छृङ्खल स्वभाव को बिसार दिया। घर में दुःखी रहती। पति से क्या कहे! वही कुसूरवार थी।

कुछ दिन बीते। एक दिन पति पत्नी दोनों चाय पी रहे थे। पति ने पूछा, "तुमने क्लब से इस्तीफा क्यों दे दिया माया?"

"मैं अब वहाँ नहीं जाऊँगी"

"लेकिन स्वास्थ्य के लिए वहाँ जाना जरूरी है। तुम तो पीली

पड़ती जा रही हो।"

माया का दिल भर आया। गद्गद हो बोली, "मैं वहाँ नहीं जाऊँगी, मेरे पीछे........।"

"क्या माया ?" पति ने सवाल पूछा।

"वह भाग्यशालिनी कौन है ?"

"तुम क्या कह रही हो माया ?"

"बतला दो वह कौन है ? कहकर माया उठी और ऊपर कमरे से एक डिब्बा उठाकर ले आई। उसमें से अधजले सिगरेट के टुकड़े मेज पर फैलाते हुए बोली, "ये किसने पी हैं ?"

पति वैसे ही बोले, "क्या ? मैं तो कुछ नहीं जानता।"

"बतला दो ! बतला दो !!" माया की आँखें छलछला आईं।

"अच्छा, इसी लिए तुमने क्लब जाना छोड़ दिया। बात यह है कि मुझे एक झक सूझी। उस दिन किसी कम्पनी से 'लिपस्टिक' का 'सैम्पल' आया था। मैंने आधी सिगरेट पीकर, उँगली से उस पर लगाना शुरू कर दिया।"

"यह तुम मुझे बहका रहे हो।" टप-टप-टप, माया की आँखों से आँसू की बूँदें टपकने लगीं।

"यह सच बात है।" कह कर पति ने अधजली सिगरेट मुँह से निकाल कर, आलमारी से 'लिपस्टिक' निकाल उस पर लगा दी।

माया ने देखा। आँसू बहते-बहते रुक गये। मुस्करा कर बोली, "यदि मैं जानती......?"

समस्या

सुशीला कमरे के दरवाजे पर टिठक कर खड़ी हो गयी। कुछ कह नहीं सकी।

डाक्टर ने अपना चश्मा उतारा, मेज पर रखते हुए कहा, "बैठिये।" फिर 'ऐशट्रे' से सिगार उठा कर मुँह से लगा लिया।

सुशीला मन-ही-मन सोच रही थी कि यही है वह डाक्टर। डाक्टर, जिसका नाम 'हिल स्टेशन' का बच्चा-बच्चा जानता है। जिसकी दवा और इलाज का हर एक आदमी कायल है। जिसकी अजीब-अजीब बातें रोज चाय की प्यालियों के साथ चालू रहती हैं।

कमरे में नीली रोशनी थी। दरवाजों पर बड़े कीमती परदे टँगे हुए थे। दीवाल पर चार्ट लटके थे। सामने जरा हटा हुआ एक छोटा-सा दरवाजा था। उस पर लाल चौड़े बार्डर का परदा पड़ा था। मेज पर मोटी-मोटी किताबें थीं। एक ओर हटा हुआ औजारों का 'बाक्स' था। दीवाल पर एक मात्र तसवीर थी। तसवीर :—

पादरी काला-काला लबादा पहने। सुन्दर चेहरे पर दाढ़ी का हल्का 'शेड'। एक हाथ की उँगलियाँ मेज पर धरी धार्मिक पुस्तक पर टिकी थीं। दूसरे हाथ की हथेली दार्शनिक के समान आकाश की ओर खुली थी। सामने जरा हटी हुई ऊँची टेबुल पर मनुष्य की खोपड़ी रखी हुई थी। दूर सूनी दीवाल पर एक 'खयाल' चित्रित था—ईसू क्रास पर लटका!

सुशीला की सहमी आँखों ने, एक बार चन्द मिनट में ही अपने को सारे वातावरण में समा लिया।

वह बैठ गयी। डाक्टर ने टेढ़ा-मेढ़ा औजार उठाकर उसकी नोक

और बनावट पर अपनी आँखें फैला दीं। कुछ देर के बाद टिकी आँखों को उठाकर कहा, "आपको यह उम्मेद न रही होगी कि मैं यहाँ हूँ। कई साल यहाँ काटकर भी लोगों के बीच अनजान हूँ। यह मेरी लाचारी है। मैं बाहर के लोगों के बीच जगह नहीं चाहता हूँ। आपको जरूरत से ज्यादा इन्तजार करना पड़ा। मैं मजबूर था। पिछले कई सप्ताह से एक नयी दवा के पीछे, एक मिनट भी सोने को नहीं मिला। चाय पीकर ही काम करता था। अपने खास मरीजों के बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है। फिलहाल चार हैं। उनकी वजह से रोज परेशान रहता हूँ। मैं चार से ज्यादा मरीज नहीं रखता।"

डाक्टर कहकर चुप हो गया। जैसे कि अब कुछ और कहना न हो। फिर घण्टी का बटन दबाया। नर्स दाखिल हुई। वह बोला, "आप को खास मरीज दिखा लावो।"

खुद सामने ऊँची मेज के पास खड़ा हो 'टेस्ट्यूब' उठाकर देखने लगा।

सुशीला देख रही थी। डाक्टर ने उसे अपनी आँखें सौंपते हुए कहा, "आप जानती होंगी कि यहाँ से कोई मरीज अच्छा होकर नहीं जाता। यह आखिरी मञ्जिल है। मैं यह बात दुहरा-तिहरा कर कहता हूँ। यह सब उनकी लापरवाही का नतीजा है। वे यहाँ से बाहर चली जाना नहीं चाहती हैं।"

सुशीला की अन्तरात्मा से एक-एक शब्द खेलने लगा। खेलता रहा। सोचती कि यह क्या? यह वही है। वही तो?

नर्स बोली, "चलिये।"

वह साथ हो ली।

—पहले कमरे के बाहर तख्ती पर लिखा था: श्रीमती कौशल्या देवी सक्सेना, उम्र—बाइस साल, आने की तारीख: १२ नवम्बर १६३... ।

कमरे में देखा: सारा कमरा आसमानी रंग में पुता हुआ था।

फर्श पर उसी रंग की दरी बिछी थी ; ऊपर रंगीन बल्ब था। वह युवती आराम कुर्सी पर लेटी तसवीरों वाली किताब देख रही था। कमरे में चारों ओर बड़े-बड़े आईने टँगे थे।

वह आहट पाकर सुशीला का हाथ पकड़, बैठाते हुये बोली, "डाक्टर अक्सर आपका जिक्र करता था।"

सुशीला बात न पकड़ पायी। खुली किताब वाला चित्र देखा एक स्त्री कबूतरों को दाना चुगा रही थी। पास बच्चा कुतूहल में डूबा था।

श्रीमती सक्सेना कहती रहीं, "ठीक, आप भी हमारे बीच आना चाहती हैं। लेकिन नहीं, अभी नहीं। मुझे यह चाहना नहीं कि आपको जगह दूँ। अभी मुझे मरना नहीं है। मैं यह नहीं चाहती हूँ। आप मेरी मौत के इन्तजार तक रुक सकती हैं।"

यह कैसी पहेली थी! उसकी मौत से सुशीला को क्या मिल जावेगा?

सक्सेना मुसकराते बोली, "मुझे ज्यादा कहना नहीं है।" फिर नर्स से ग्रामोफोन पर 'रिकार्ड' चढ़ाने को कहा।

अब सुशीला का हाथ अपने में ले बोली, "दुनिया में कोई मरना नहीं चाहता?"

"क्या?" सुशीला रुक पड़ी। उस आसमानी रंग की साड़ी-जम्पर से ढकी युवती से हाथ मिला कर बाहर चली आयी।

—उसने दूसरे कमरे के बाहर हँसने की खिलखिलाहट सुनी। अन्दर देखा कि एक युवती नर्स के साथ ताश खेलने में मशगूल थी। सामने मेज पर खाने-पीने का सामान धरा था। वह युवती ज्यादा खिली और सुन्दर लगती था। कमरे में चारों ओर काले-काले परदे टँगे थे। फ़र्श पर काले रंग की दरी बिछी थी। वह खुद काली साड़ी-जम्पर में थी।

सुशीला को देखकर बेतकल्लुफी से बोली, "आओ मेरी नयी सहेली। हम तुम्हारा इन्तजार करते-करते थक गयी थीं। रोज ही

डाक्टर तुम्हारी तारीफ करता था।"

"मेरी तारीफ ?" सुशीला ने कुतूहल से दुहराया।

"तुम नहीं जानती होगी। न जानना ही ठीक है। डाक्टर को यह विश्वास न था कि एक दिन तुम आओगी।"

"मैं......!" सुशीला अटकी, "यह तुम क्या कह रही हो ? पागल तो नहीं हो गयी !"

"पागल !" हा, हा, हा, हा ! श्रीमती गुप्ता हँस पड़ी, यहाँ कोई परदा नहीं। हर एक नये मरीज से डाक्टर अपनी कहानी कहता है।"

"अपनी कहानी ? आप यह क्या कह रही हैं ?"

"डाक्टर ने अपनी जिन्दगी मरीजों और प्रयोगों में काट दी है। वह एक 'थीसीस' लिख रहा है। जिसके पीछे वह महीनों से बँगले के बाहर नहीं गया है। उसे दुनिया-भर से नफरत है। उसे हमने कभी हँसते हुए नहीं पाया। बहुत कम बोलता है। हर वक्त उलझा-सा रहता है। वह पिछली कई रातों से एक मिनट नहीं सोया। किताब के पन्ने, प्रयोग, चाय के प्याले—यही सब जैसे कि उसका संसार हो। सुबह आठ बजे घण्टे-भर के लिये वह बाहर के मरीजों से अपने खास कमरे में बातें करता है। कमरे में इतनी धुंधली रोशनी होती है कि उसे कोई पहचान नहीं सकता। सन्ध्या को गोल कमरे में एक घण्टे के लिए खास मरीजों को बुलाता है। उनको संसार, मनुष्य और विधाता के प्रति अविश्वास करना सिखलाता है। सुझाता है कि दुनिया फरेब है, धोखा है। जैसे कि वह एक नया मजहब चलाने की फिक्र में हो।"

श्रीमती गुप्ता रुक पड़ी। कुछ देर सन्नाटा रहा। वह फिर एकाएक बोली, "खाना तैयार है। लेकिन शायद डाक्टर ने अभी यह इजाजत न दी होगी। और डाक्टर का नया इलाज !"

"नया इलाज !" सुशीला ने चौंकते हुए दुहराया।

"इसे उसने दुनिया के लिये सीखा है। स्वयं अलग रहता है।

फिर भी उसे अपने मरीजों की भारी फिक्र है। उसकी हमदर्दी की वजह से कोई उसे अकेला छोड़कर जाना नहीं चाहता है। वह सहानुभूति नहीं माँगता। उसे अपनी परवा नहीं है।"

सुशीला बाहर चली आयी। श्रीमती गुप्ता के खाने का वक्त हो आया था।

बाहर आकर उसने तीसरे कमरे की ओर तेजी से डाक्टर को जाते हुए देखा। रुक पड़ी। नर्स के कहने पर साहस कर के कमरे का परदा हटा कर देखा कि धीमी रोशनी थी। पलंग पर एक रोगिणी बेहोश पड़ी थी। डाक्टर उसके पास खड़ा होकर कुछ सोच रहा था। डाक्टर की तेज आँखें रोगिणी के चेहरे पर थीं। कमरे में पूर्ण सन्नाटा था। रोगिणी बिलकुल बेहोश थी।

डाक्टर ने टेबुल पर से दवा की शीशी उठा कर देखा। फिर मेज पर धरे हुए एक-एक सामान को टटोला। कुछ देर के बाद रोगिणी की 'पल्स' देखी। 'स्टेथस्कोप' से छाती की धड़कन भाँपी और मुस्कराया।

डाक्टर ने 'इञ्जेक्शन' का 'ट्यूब' तोड़ा। 'सीरप' भरा और इञ्जेक्शन दे दिया। कुछ देर के बाद पल्स देखी। रोगी को भांपता रहा। एक बार सुशीला को घूरा और बाहर चला आया।

सुशीला खड़ी-खड़ी देखती रही। डाक्टर के चले जाने पर रोगिणी के पास आयी। वह बच्ची सी लगती थी।

नर्स बोली, "कुमारी चटर्जी कलकत्ते में एम०ए० में पढ़ती थीं।"

सुशीला चुप रही। नर्स कहती रही, "डाक्टर पिछले साल कलकत्ते गया था। वहीं से इस मरीज को साथ लाया। यह उसकी खास मरीज है। इसकी हालत नाज़ुक है। जब से आयी, अक्सर बेहोश रहती है। लोग कहते हैं कि डाक्टर की 'थीसीस' से इस बेहोशी और बीमारी का गहरा सम्बन्ध है। इसके आने के बाद ही उसने 'थीसीस' लिखनी शुरू की है। वह रात्रि को यहीं बैठा कर लिखता है।"

कि एकाएक कुमारी चटर्जी जरा हिली। आँखें मूँदते हुए गुनगुनायी, "डाक्टर, मैंने अजीब स्वप्न देखा है। तुमसे कहना भूल गयी।"

नर्स ने टोका, "मिस चटर्जी!"

मिस चटर्जी ने आँखें खोलीं। अजीब स्वर में बोली, "तुम सुशीला?"

यह क्या? वह सुशीला से परिचित है। सुशीला सोचने लगी कि यह सब क्या है? जहाँ का एक-एक मरीज उसे जानता है। जैसे कि वह उनके बीच सालों से रही हो।

चटर्जी कह रही थी, "मैं स्वप्न की बात कह रही थी। सुशीला तुम यहाँ से चली जाओ। क्या तुम डाक्टर की मौत चाहती हो? फिर तुमने आज आकर उसकी जिन्दगी में रोड़ा लगाया है। अब आज वह यह शहर नहीं छोड़ सकता। उसका विश्वास था कि तुम उसकी पहुँच से दूर हो। तुम आयी हो। तुम उसकी असफलता रही। निराशा और भूल हो। तुम आठ साल बाद एक दिन आओगी, हमें विश्वास न था। तुम आयी हो। चुपचाप चली जाओ। डाक्टर से इजाजत माँगनी जरूरी नहीं। ओ' माँ···!" फिर मिस चटर्जी बेहोश हो गयी।

नर्स ने पलंग से लगी घण्टी दबायी। कुछ देर के बाद डाक्टर कमरे में घुसा। उसके हाथ में एक टेस्ट-ट्यूब था। उसकी महक ने सारे कमरे को भर लिया। एक बार उसने सुशीला को घूर कर देखा, और······

सुशीला बाहर निकल आयी थी।

—चौथे कमरे में गयी। देखा कि एक दुबली-पतली युवती कुछ लिख रही थी। आहट पाकर उसे देखती हुई बोली, "ओ, सुशीलाजी। तुम आ गयीं!"

किताब बन्द कर दी। फिर नर्स से कहा, "चाय का सामान मँगवा देना।"

नर्स चली गयी। कुछ देर बाद चाय का सामान आया।

श्रीमती माथुर बोली, "आओ चाय पी लें। बिस्कुट की तश्तरी उसके आगे सरका दी। चाय बनायी और प्याला बढ़ाया। सुशीला मना न कर सकी। चुपचाप पीने लगी।

नर्स चली गयी थी। वे दोनों कमरे में अकेली रह गयीं। सुशीला ने देखा कि कमरे में कोई खास सामान नहीं था। मेज पर एक किताब थी। वह अभी तक उसी पर कुछ लिख रही थी।

"आप किताब की ओर देख रही हैं।" श्रीमती माथुर ने कहना शुरू किया, "कुछ स्वप्नों का बयान है। जो उलझे होने पर भी सच हैं। पहले तीन डाक्टर ने जर्मनी में देखे थे। दूसरे तीन यहीं। आगे उसने कोई स्वप्न नहीं देखे। उसके मरीजों के कुछ स्वप्न भी उससे लगे होते हैं। आज मिस चटर्जी ने स्वप्न देखा है। डाक्टर से वह कहना चाहती थी। मैंने मना कर दिया। वही लिख रही थी।

पहला:—बच्चे के रोने की आवाज कल रात सुनी। कैसी बात है? आगे......। बच्चा उसकी गोदी में था। बच्चा जरा रोया, थक गया, और वह रो रही थी।

तारीख—१३ दिसम्बर १६...। रात्रि ८॥

"१३ दिसम्बर!" सुशीला हल्के गुनगुनायी। बोली, "उस दिन मेरे नजदीक कोई नहीं था। स्वामी दौरे पर चले गये थे। बच्चा हुआ। कोई उसे न बचा सका। डाक्टर का इससे सम्बन्ध ....।"

दूसरा:—अस्पताल में डाक्टरों के बीच घिरी युवती देखी। उसका कैसा इलाज चालू था? वह फुसफुस! ....नींद खुल गयी।

२ फरवरी, १६...

"ठीक—ठीक!" सुशीला चिल्लायी। "उस दिन मैंने जिन्दगी से ऊब कर जहर पी लिया था।"

"ठहरो!" डाक्टर ने कमरे में आते हुए जोर से कहा, "मिस

चटर्जी मर गयी है।"

"मर गयी!" सुशीला अवाक् हो बोली।

"मर गयी!" मिसेज माथुर गुनगुनायी।

"मर गयी!" डाक्टर कहता रहा, "तुम जानती हो, वह अचानक कलकत्ते के एक सिनेमा में मुझे मिली थी। मुझे इस लड़की ने प्रभावित किया था। मैं उसे अपने नजदीक रखना चाहता था। वह खुद अगले दिन मेरे होटल में आयी। आगे एक दिन बोली, "डाक्टर, मुझे मर जाना है। मेरा सौभाग्य था कि तुम मिल गये।"

—डाक्टर चला गया और अपने कमरे की बड़ी मेज के पास खड़ा हुआ। उसने चारों ओर के दरवाजे बन्द किये। फिर टेबुल के पास आया।

मिस चटर्जी निर्जीव पड़ी हुई थी। उसने उनकी आँखों की पलकों को अपनी उँगलियों से छुआ। सोचा—यही सबका हाल है।

फिर उसने उस शरीर पर इन्जेक्शन दिया। चुपचाप छोटे कमरे का परदा हटा कर 'लेबोरेटरी' में चला गया।

वहाँ उसने अलग-अलग 'टेस्ट-ट्यूबों' में टी० बी० (क्षय) के कीटाणु पाले थे। अलबम में हर एक मरी हुई युवती का फोटो था। उन पर नम्बर पड़े थे। उन्हीं नम्बरों वाले 'टेस्ट ट्यूबों' में, उन युवतियों की आखिरी खून की बूँदों में खेलते हुए कीटाणुओं को अपने तेज लेन्सवाले 'माइक्रसकोप' से देखता रहता था।

अपनी तृष्णा के लिए उसने कितनी खूबसूरत युवतियाँ नहीं फँसायी थीं। जैसे उनको रोगी बनाना ही उसका खेल रहा हो। जैसे कि वह खेल ही उसके जीवन का ध्येय था। उन युवतियों की आहें, पीड़ा, वेदना ही जैसे उसके हृदय को भारी सान्त्वना देतीं! एक-एक युवती की मौत पर दिल का भारीपन हल्का होता जाता था। उनकी मौत पर

कब वह आँसू बहाता। इतना वक्त नहीं था।

जब डाक्टर ने डाक्टरी शुरू की थी! एक दिन वह टी० बी० विशेषज्ञ होकर जर्मनी के बड़े 'मेडिकल कालेज' में 'हाउस सर्जन' हुआ था। उन दिनों मरीजों के नजदीक रहते-रहते अक्सर घबड़ा उठता था। तभी याद आता कि सुशीला धोखा न देती, तो······?

उसे सुशीला अपनी सगी लगती थी।

सुशीला कहती, "तुम पागल हो।"

वह जवाब देता, "झूठी बात है।"

और सुशीला की शादी हो गयी थी। वह चली गयी। सुशीला जो उसके जीवन की 'फँसी' थी, अलग हट गयी। तब जीवन से घृणा हो आयी। नारी की इस उपेक्षा ने मन मैला कर दिया। आगे वह सरकारी वजीफा पाकर जर्मनी चला गया।

अक्सर स्त्री मरीजों के चेहरे पर सुशीला का प्रतिबिम्ब छिटका हुआ मिलता था। वह मन-ही-मन ठानता कि वह सुशीला से दूर रहेगा। उसके नजदीक नहीं जावेगा। उसका कोई सवाल पास नहीं रखेगा। तन-मन से अपनी ड्यूटी बजाता।

एक रात ख्वाब देखा : सुशीला के बालों से कोई अनजान व्यक्ति खेल रहा था। सुशीला मुसकरा रही थी। जैसे कि वह इस खेल से परिचित हो। वह पहचान से घिरी लगी।

नींद टूट गयी थी। समझ गया कि सुशीला ने इसी के लिए उसे धोखा दिया था। पास से भाग गयी थी। अलग हट गयी। वह उद्विग्न हो उठा। अपने नये मरीज के कमरे में चला गया था। वह चुपचाप सोयी थी। उसने हल्के उसके चेहरे से चादर उठायी, घूरा और गुनगुनाया, "मौत के चंगुल में फँसी युवती तेरा इतना सौन्दर्य! गिनती के मिनट बाकी हैं।"

हल्के उसने उस युवती के बालों से 'क्लिप' अलग निकाल कर बालों

को चेहरे के चारों ओर फैला दिया। उन लम्बे-लम्बे बालों से उसकी उँगलियाँ झगड़ती रहीं। मन में बात आयी, "काश कि वह उसी की 'हीरोइन' होती! जिसकी कब्र पर वह आँसू बहाता!"

युवती ने अपनी आँखें खोलीं! भरपूर खिली आँखों से देखा। आँखें मूँद लीं। डाक्टर समझ गया कि अब मौत नजदीक है। अपने कमरे में लौटते हुए नर्स को आगाह कर दिया। वह कमरे में आईने के आगे खड़ा हो खिलखिला कर हँस पड़ा। चाय का प्याला तैयार करके पी, खूब मग्न हो सो गया था।

तभी से उसके दिल पर स्त्री मरीजों से खेल लेने में अनजाने कोई हल्की सान्त्वना की पोत लगा देता। वह सुन्दर स्त्री मरीजों का कायल था। उसे जहाँ कहीं कोई युवती भली लगती, उसे चाय के लिए न्योता देता। बिस्कुटों में टी० बी० के कीटाणु खिलाता। जब वह उसके खास मरीजों में भरती होने आती, तब वह एक नयी जिन्दगी पा जाता। उसकी हिफाजत करता। उसे समझाता, भली-भली बातें सुनाता। वह जब जरा अच्छी होती नजर पड़ती, फिर तेज कीटाणु का इञ्जेक्शन देता था। उसे रोगिणी और उसके रोग से वास्ता था। यह सब अपनी वास्तविकता के लिये, अपनी प्यासी आत्मा के लिए, जरूरी था। अपना एक सावाल हल कर लेने, अपनी भूख मिटाने का ही साधन था। उसकी परवा से साध्य का ओर-छोर अलग था। जैसे कि वह मतलब नहीं हो।

उसने अपनी एक रोगणी से समझा कि वह अपने को धोखा दे रहा है। जब कि मिस चटर्जी बोली थी, "डाक्टर, मैं कुछ दिन जीवित रह कर तुम्हारे पास रहना चाहती हूँ। यह मेरी लालसा है।"

तब वह कहता, "ठीक है। तुम घबड़ाती क्यों हो? मुझे पूरी उम्मेद है कि तुम जल्दी ही ठीक हो जाओगी।"

वह मन-ही-मन गढ़ता—भोली लड़की, तू कितने गहरे में है। यह

तत्व ठीक नहीं समझ पड़ेगा। अब मेरे हाथ में कुछ नहीं है। न तू उस खुदा के भरोसे जी सकेगी।

उसे मिस चटर्जी की बेहोशी भली लगती थी। उसकी बातें सुन कर वह अक्सर डर जाता था कि न जाने क्या कहेगी? मन-ही-मन निश्चित करता कि कुमारी मरीज एक भयानक व्यवस्था है। वह इससे पार न पा सकेगा। जैसे कि वह आगे अब ऐसे मरीजों को साथ न रख सकेगा। लेकिन इतनी असमर्थता असह्य थी। वह यह हार मंजूर नहीं करना चाहता है। अपनी हार कहाँ भली लगती थी?

लेकिन उसके शरीर को जितने तेज इन्जेक्शन घेर चुके थे। उसने उसे दायरे के बाहर निकाल लाने की चेष्टा कभी नहीं की। वह न चाहता था कि वह नादान लड़की होश में आकर उस पर प्रभाव डाले। वह अच्छी होने पर सुशीला की तरह स्वामी की खोज में भाग जावेगी।

वह उसे घण्टों बेहोश देखता। देखता कि चेहरे का रंग क्यों कर बदलता है। वह कई रात-रात घण्टों खड़ा का खड़ा रह जाता था। जब नर्स कहती, "आठ बज गये हैं।" वह फौरन् जवाब देता, "चाय के लिए कह दो।"

मेज पर बैठ कर जाय की चुस्की चढ़ा कर, वह अपनी 'थीसीस' के पन्ने लिखने शुरू कर देता।

कलम चलती; वह लिखता। जब रोगिणी अधजगी आह करती, वह चौंक उठता था। उसके पास जाता। पूछता, "क्या बहुत पीड़ा है।"

वह अपनी उँगलियों को छाती की खास-खास जगह पर टिका देती......।

डाक्टर उन उँगलियों को छूता। छूता—उस नारी के हृदय की सारी अनुभूतियों को। अपनी 'रुटीन' में वह अपेक्षा लगती। एक निरी बनावटी सहानुभूति बखेरता हुआ उसके गालों को अपने हाथों से छूकर

सहलाता। उसे छोटे बच्चों की तरह समझाता हुआ कहता, "तुम डर गयीं।"

देखता—उसकी सुफेद-सुफेद सूनी आँखों को।

अपने में कहता—सुशीला क्या तुम कभी एक दिन आओगी? तब जानोगी कि मेरा भी एक अस्तित्व है। जिसे ठुकराने की हिम्मत किसी को नहीं। मैं कितना भाग्यवान हूँ। तुमको मेरे सौभाग्य से ईर्ष्या होगी।

अपने मरीजों को सुशीला की कहानी सुनाता। एक-एक बातें कहता। कहाँ और कितना छिपाना जरूरी है इसका पूरा-पूरा खयाल रखता।

उसने सब 'टेस्ट-ट्यूबों' को शुरू से आखिर तक देखा। एक-एक रमणी के फोटो पर चन्द मिनट आँखें टिकीं। उसने अपना 'केमरा' निकाला और बड़े कमरे में आया। वहाँ उसने मिस चटर्जी का फोटो लिया। तीन-चार 'निगेटिव' निकाले। फिर कुछ देर तक उसे देखता रहा। सुशीला को जगह देने ही के लिए उसने उसे इतनी जल्दी मार डाला था। सुशीला से उसको लगाव था। न सुशीला आती, न .... ? अनजान लड़की ने कालेज में किताबें चाटकर भी न समझा कि जिन्दगी क्या है? अपने हृदय में छुपाये पुरुष मूर्ति को पहचान लेने के पहले ही वह उसके चंगुल में फँस चुकी थी। वह डाक्टर के जीवन का एक प्रयोग ही रह गयी थी। कहीं गहरा प्रभाव न छोड़ गयी थी। सुशीला ने आकर डाक्टर की सारी उलझन हटा, उसे अपने में ले लिया था। वह नयी दुनिया से परिचित न थी। जहाँ नये-नये दस्तूर थे, कायदे और कानून थे।

डाक्टर अपने निजी कमरे में जाकर बैठ गया। मन भारी था। वह उठा और गुसलखाने में शेव कर, गरम पानी से खूब नहाया। काली सूट के ऊपर काली टाई लगा कर घण्टी बजायी। चाय मँगवायी और पी। अपने मरीजों और सुशीला को बुलाया। बीच मेज पर

मिस चटर्जी की लाश थी। सब चुपचाप चारों ओर कुर्सियों पर बैठ गये।

डाक्टर ने खड़े होकर कहना शुरू किया, "मौत से कोई नहीं जीता। भगवान् भी नहीं बचा सकता। जवान लड़की के मर जाने का कोई दुःख नहीं है। इससे पार नहीं पाया जा सकता है।"

डाक्टर चुप हो गया। उसने चाय का एक-एक प्याला चारों को सौंपते हुए कहा, "मृत्यु आत्मा की शान्ति के लिए।"

सब ने चाय के प्याले लिये। वह अपने छोटे कमरे में गया। वहाँ उसने बिस्कुट का डिब्बा निकाला। एक पर तेज कीटाणु फैलाये।

मन में बात उठी कि वह क्या कर रहा है? क्या वह सुशीला को दुनिया की सब स्त्रियों से अलग नहीं मान सकता? सिद्धान्त से हार गया। सुशीला उसकी कौन है? मिस चटर्जी से अलावा नहीं।

उतावली में बाहर आया। उसने एक-एक बिस्कुट चारों को दिया। सुशीला को देते ठिठका। अन्त में जीत गया। कहा, "अपनी आत्मा के लिए।"

सबने दुहराया, "अपनी आत्मा के लिए।" बिस्कुट खा लिए।

डाक्टर ने घण्टी का बटन दबाया। नौकर आये। बारी-बारी से तीनों मरीजों ने मिस चटर्जी का माथा चूमा। सुशीला ठिठकी। डाक्टर की ओर देखा। वह घूर रहा था। मिस चटर्जी को चूमते दो बूँद आँसू गिराये।

डाक्टर ने टोका, "यहाँ रोने का रिवाज नहीं है। यह खैराती अस्पताल नहीं।"

नौकर मिस चटर्जी के शरीर को ले गये थे।

अब डाक्टर ने कहा, "मैं तीन दिन तक आप लोगो से न मिल सकूँगा।'

एक-एक कर सब रोगिणी चली गयीं।

डाक्टर ने दरवाजा बन्द किया। परदे खींच लिये। चुपचाप अपने

सोने के कमरे में चला गया।

फिर भी डाक्टर की भूख नहीं मिटी। सुशीला को अपने पास पा कर वह डर गया। क्या इसी को पा लेने के लिए उसने इतना बखेड़ा रचा था? जो कभी उसके पास से भाग गयी, अब वह नजदीक थी। वही सुशीला अब साधन थी। लेकिन सुशीला को पाकर उसे खुशी न लगी। वह बात की गहराई न पकड़ पाता था। पहले और आज की सुशीला में अन्तर था। आज वह चञ्चल न थी। मज़ाक न कर सकती थी। चुप रहती थी।

वह थक गया था। चुपचाप सो गया। बड़ी देर तक सोया रहा। वह जगकर थीसीस लिखता। फिर सो जाता। कभी-कभी वह लगातार 'टेस्ट-ट्यूबों' को ही देखता रहता था। 'माइक्रसकोप' का 'लेन्स' मिस चटर्जी वाले 'टेस्ट-ट्यूबों' पर अटक जाता था। देर तक वह वहीं खड़ा रह, आँखें डुबो कर उन कीटाणुओं को देखता रह जाता! जो उस युवती के शरीर को खा-खाकर पले थे। कभी-कभी वह देखता—मानों उस युवती की परछाईं वहीं से उसे घूर रही हो। वह आधी-आधी रात सुनता, "ओ डॉक्टर, क्या मैं सच मर जाऊँगी? नहीं, नहीं; मेरी माँ है; मेरी बहिन है और मेरा छोटा भाई है। कितनी ही हवसें दिल में हैं?"

नींद टूट जाती। अपने तक गुनगुनाता, "मेरा तो कोई नहीं।" जैसे कि वह कथन एक सन्देह हो।

अपने मरीजों पर सोचता। उनके वातावरण पर! अपने मरीजों के लिए वह उनके स्वभाव और इच्छानुकूल कमरे ठीक करता था। वह उनकी बातों को ऐसा निभाता कि हर एक और कुछ नहीं चाहता था। अपने में ही सन्तुष्ट रहता। कभी-कभी मरीज कुछ और सोचते थे? डाक्टर का विश्वास! क्या सारा जीवन इसी प्रकार

निभा लेगा। अजीब आदमी है। सभा-सोसाइटी से मतलब नहीं।

एक दिन डाक्टर की नींद टूटी। पास घण्टी बज रही थी।

डाक्टर उठ बैठा। कमरे का दरवाजा खोला। देखा कि नर्स खड़ी थी।

नर्स घबरायी बोली, "आपने तीन दिन का वादा किया था। आज सातवाँ है। कल से सुशीला की हालत बहुत खराब है। आपको लाचारी सूचना देनी पड़ी है।"

अब डाक्टर अपनी गलती समझ गया। काँप उठा। उसने सुशीला को सब से तेज कीटाणु खिला दिये थे, जो फौरन् ही असर कर गये। वह अब क्या करे?

वह बोला, "सुशीला को मेरे कमरे में पहुँचा दो।"

डाक्टर ने देखा : सुशीला बिलकुल पीली पड़ गयी थी। पिछले दिन-भर वह बेहोश रही।

डाक्टर ने दरवाजा बन्द किया। पलँग पर लेटी सुशीला के पास खड़ा हो गया।

उसने 'इञ्जेक्शन' का सामान तैयार किया और दे दिया।

धीरे-धीरे सुशीला ने आँखें खोलीं। अवाक् हो पुकारा, "डाक्टर!"

"चुप रह सुशीला।"

"डाक्टर!" सुशीला फिर बोली।

डाक्टर ने कुछ नहीं कहा।

"तुम यहाँ हो। मुझे पता नहीं था।"

"तुम जानकर ही क्या करती?"

"यह न बोलो।"

"सुशीला!"

"डाक्टर!"

दोनों की आँखें एक दूसरे में डूबी रहीं। अलग न हटीं।

"वह मेरी मजबूरी थी।" हताश् सुशीला बोली।

"मजबूरी !" डाक्टर ने दुहराया।

"फिर तुमने कभी याद नहीं किया। मुझे जब अपनी गलती मालूम हुई, तुम तब तक चले गये थे।"

"सुशीला ?" डाक्टर धीमे स्वर में बोला।

"मेरे बच्चा हुआ था। वह मर गया। दूसरा हुआ। वह भी···।"

"दो ······?" डाक्टर ने आश्चर्य में पूछा।

"नहीं, तीसरी लड़की हुई थी। बड़ी सुन्दर थी। नीली-नीली आँखें। एक दिन वह भी मर गयी···।" सुशीला की आँखों में आँसू थे।

डाक्टर की समझ में कुछ नहीं आया। सुशीला तेज बुखार में अनर्गल बक रही थी।

डाक्टर ने सुशीला को जिला लेने की ठानी। उसे लगा कि वह खुद गलत था। वह अपने इस मरीज को जिलावेगा।

सुशीला मर गयी। डाक्टर को उसके फोटो को खींच लेने का साहस नहीं हुआ। उसने अपनी 'थीसीस' निकाली और जोर-जोर से पढ़नी शुरू कर दी। बीच-बीच में खिलखिलाकर हँसता। कभी-कभी, धीमे-धीमे समझाता! एक-एक अक्षर को दुहराता-तिहराता था। कभी एक-एक टेस्ट-ट्यूब ला कर उनका हाल सुनाता था। उनका रहस्य बुझाता था।

—श्रीमती माथुर ने गोल कमरे में खड़े होकर मिस चटर्जी का स्वप्न सुनाया : उसने देखा था कि डाक्टर मरा पड़ा है। सामने लेटी, मरी सुशीला पर उसकी आँखें लगी हैं। बीच में 'थीसीस' खुली पड़ी थी।

इस समय भी डाक्टर और सुशीला उसी अवस्था में पड़े थे। नर्स ने उनको काली चादरों से ढक लिया।

झगड़ा

अकसर आनन्दी से तकरार बढ़ जाती है। पहले वह मुस्कराती हुई जवाब देगी, फिर एकाएक गम्भीर हो जाती है और आखिर में रूठ कर कुछ बोलती नहीं। उसे समझाता हूँ कि यह गलत तरीका है। वह कब मानने वाली है! कुछ नहीं कहती है। मौन बैठी की बैठी रहेगी। न जाने उसे अपने पक्ष को सही साबित करने की फिक्र क्यों बनी रहती है? अनायास ही उस गुम-सुम बैठी गूँगी लड़की को छेड़ने के लिए तबीअत मचल उठती है। मैं चुप रहना नहीं जानता। बस उसकी ठोड़ी को ऊपर उठाकर कहूँगा—आनन्दी रानी!

आनन्दी एक झकोरे से मेरा हाथ अलग हटा, बड़ी अदा से कुछ दूर सरक जाती है। यह उपकार सीख कर जैसे कि अपने को उबार लेने का उसका यह आजमाया नुस्खा हो। तब अनमनी-सी इधर-उधर दीवालों पर टँगी तसवीरों को अपनी आँखों से छू लेती है। उन तसवीरों में तथ्य भले ही न हो, वे पूर्ण खिली हुई बड़ी आँखें प्यारी लगती हैं। जानता हूँ कि उनके भीतर अभी-अभी हुए झगड़े का सारा कुतूहल जमा है। यों दिल बहुत भारी होगा। वह भार न जाने कब तक हटाया या बाँटा जायेगा। यदि वह इसी को आदत बना रही हो, तो मुझे इनकार करने का अधिकार क्या है? कई बार मैंने सोचा है कि मायके वालों ने क्या यह गुस्सा भी दहेज में सौंप दिया है? सुना था कि यह आनन्दी बचपन में बड़ी सरल थी। इतनी सरल और कोमल कि डर लगता कहीं चटक न जावे। वह उस भावुकता को अपना ना जानती थी, जिससे घरवाले उसकी सारी बातें स्वीकार करने में कभी आनाकानी नहीं कर सकते थे। नहीं, मोम की तरह पिघल कर रो

पड़ना उसका हथियार था। आज फिर भी उन आँसुओं को वक्ष पर बहा देती है। लेकिन सारी सहृदयता तुनकमिज़ाजी में तब्दील हो गई है। जब देखो तनकर मुकाबिला करने को आगे खड़ी तैयार मिलेगी। मैं यदि दलील पेश करूँगा, मानेगी नहीं। वह कठोर नहीं। फिर भी दावा करेगी कि कठिन जरूर है। यदि, पहले इन सब बातों को जानता तो विवाह-मंडप पर अकड़ जाता। कहता—सुनो लोगों, यह शादी हो गई, गाँठ बाँध कर पूरे सात फेरे लग चुके हैं। सात सौतों को यह लड़की सिल पर पीस चुकी; लेकिन एक आठवीं बाकी है। यह है नारी का अनुरोध। उसे गुस्सा कहना फिजूल होगा। अकारण नहीं तो लोग मुझ पर अविश्वास करने लगेंगे। लोग कसूर सौंपते हैं कि नारी-जाति बहुत बातूनी होती है। नारी-हठ से वे उसे तोलें, तो खरी बात प्रगट हो जायगी। बचपन में एक बड़ी उम्र तक लड़कियाँ भले ही तुतलाती हैं, आगे वे खुद ही खूब सावधानी बरतना सीख जाती हैं। उनको पहचान लेना साधारण बात नहीं है। तभी तो परखने वाली बुद्धि ने मुझे धोखा दिया।

यह आनन्दी क्या यों ही पगली बनी रहना चाहती है? मुझे अपने [सा]रे पहलुओं से जाँच करनी है। मैं अपना हाथ बढ़ाता हूँ। वह बहुत [फ़ा]सले पर नहीं बैठी है। जरा झुकता हूँ तो बाल उँगलियों के बीच फँस [जा]ता है। मुझे हँसी आते कुछ बड़ी देर नहीं लगती। यह तो है स्वाभाविक बात। सिर आगे बढ़ा कर रेशमी फीते को दातों तले दबा अपनी ओर खींच लेता हूँ। आनन्दी चौंक उठती है। बनावटी चेहरा गुस्से में तिलमिलाया मिलता है। एक बार उसकी आँखें, मेरी आँखों के भीतर पैठ कर, पूछने लगती हैं—क्या यही है तुम्हारा न्याय? मैं गुस्सा हूँ, तुम्हारी बला से। मैं कोई इस तरह खेलने के लिए खिलौना तो हूँ नहीं। मुझे छोड़ दो। यह ठीक नहीं, ठीक नहीं है।

ये सब बातें मुझ पर जमती और ठहरती नहीं हैं। उसका नारीत्व

तभी जाग उठता है। वह पूरा झटका देकर, अपने हाथ के सहारे अपनी रक्षा कर, उठ खड़ी होगी। दरवाजे की ओर दृष्टि फेर कर धमकी देगी की वह बाहर चली जावेगी। मैं ऐसी बातों को सहने का आदी बन गया हूँ। चुप रहूँगा। कुछ देर के बाद पीठ फेर कर कोई गाना गुनगुनाना शुरू कर दूँगा, और बड़ी देर तक अलाप चालू रहेगा। गाने में भले ही प्रवीण होऊँ, उस ओर से हमेशा ही निश्चित रहा हूँ। अवसर को जानता-पहचानता हूँ। उसके लिए उपेक्षित रहे बिना भी गुजारा नहीं होता। लेकिन कुछ देर के बाद उधर मुँह फेर कर पूछता हूँ, गई नहीं हो?

अब भला आनन्दी सह सकती है? वह ऐसी बैठी है कि जब चाहे, दोनों घुटनों के बीच अपना सिर दुबका ले। अभी वह गुस्सेवाला कारण भूल नहीं सकी है। अब वह गुस्सा एक करवट से दूसरी करवट पहुँच चुका है। उसमें अवहेलना है। सन्देह है। पूछने को मन करता है—आनन्दी अब कितना गुस्सा बाकी है? वह जवाब नहीं देगी। जान कर क्यों व्यर्थ सवाल पूछा जाय? क्या अपना कुछ दावा नहीं है? वह यदि यह बात न जानती होती, तो भला यों ही बैठ जाती। बाहर आँगन है और सामने ही रसोई-घर। बहाने कई निकल आते हैं। गृहस्थी में काम की कब कमी रहती है। बचपन से इस जाति ने काम करना ही सीखा है। उनकी द्रष्टी में खाली बैठा रहना उचित नहीं। कुछ नहीं होगा सिलाई करेंगी। डी०एम० सी० से काढ़ेंगी। कुरोसिया से कोई नमूना बनाया जायेगा। कई और धन्धे भी इन लोगों के लिये हैं। आनन्दी जानकार है। वह बच्ची नहीं, पूरा उन्नीसवाँ साल पार करके अब बीस में पहुँच जावेगी। लोग ठीक कहते थे कि इतनी सयानी लड़की से शादी करना भारी आफत मोल ले लेना है। यह बात पहले से मालूम थी। अब जानना बेकार है।

जब एक दिन आनन्दी की अठारह साल से बनी सब आदतों का

भार ढोना समाज के लोगों के आगे मंजूर कर लिया; उसके लिए एक रोज भी आनाकानी नहीं की है। न मैं कोई ऐसी कसौटी आगे रखता हूँ कि यह लड़की टकरा कर चूर-चूर हो जाय। वह भी जानती है कि मेरा कोई व्यवहार अर्थहीन नहीं है। मैं वास्तव को छूकर हर वक्त उसके गुणों को उत्साहित करके, उनकी चर्चा किया करता हूँ। मेरा उसके लिये कोई दावा नहीं है। यह बात खुद आनन्दी जानती है। मेरा यह जीवन का अपना कैसा लगाव है? अब वह न जाने क्या सोच रही है? चेहरा बदला नहीं है। क्या तन्मय होकर कुछ विचार कर रही है? कहीं अपने लिए झुंझलाहट तो पैदा नहीं हो गई। वह ठीक नहीं होगा। क्यों न अपना अपराध खुद स्वीकार कर ले? लेकिन......!

"माँ जी।"

नौकर आया है। माँ जी चुप हैं।

"क्या है रे?" मैं बोला।

"कुछ नहीं।" कह कर वह मुझे घूरता है। अपनी माँजी के आगे खड़ा होगा। वह क्या चाहता है? मैंने कुछ गुस्सा होकर पूछा, "क्या है, बोलेगा नहीं?"

"तरकारी क्या आवेगी?"

जेब से बटुवा निकाल कर, ठन्न से रुपया फेंक कर मैं बोला, "कुछ ले आना। हर एक बात क्या पूछने की होती है?"

"क्या!" नौकर अवाक् मुझे देखता ही रह गया। रुपया उठाकर एक बार उसने फिर बात को समझ लेने के लिए मेरी ओर आँखें फेरीं।

आज तक इस बटुए से हमेशा आनन्दी रुपये निकाल कर सौदा-पत्ता मँगाया करती थी। मैंने समाधान करने के लिए कहा, "उसकी

तबीअत ठीक नहीं है।"

श्रीमती जी की आवाज फिर भी नहीं खुली। नौकर तो खड़ा का खड़ा था। मैंने कुछ सोच कर कहा, "लेट जा न, कहीं बुखार न चढ़ आये। अभी तो सिर दर्द ही है।"

नौकर चला गया। लेकिन जान पड़ा कि आनन्दी को जैसे मैंने भारी धक्का दे दिया हो। वह मुझे देखने लगी। जैसे कि उसे मुझसे ऐसी बात सुनने की आशा नहीं थी। इस तरह नौकर के सामने वाला अनादर असहनीय हो आया। आँखों में काली-काली घटा उमड़ने-घुमड़ने लगी, और उसने एकबारगी सिर दोनों घुटनों के बीच छुपा लिया। मैं अधिक देर तक चुप नहीं रह सका। उस सिर को पास जाकर उठाने की कोशिश की। अरे! आनन्दी तो रो रही थी। मैं कितना ही सिर ऊपर उठाना चाहता, वह उसे नीचे-नीचे करने पर तुली थी। वह आनन्दी द्रवित होकर रो भी सकती है; यह मेरा कोई नया अनुभव नहीं था। मैंने कहा, "आनन्दी!"

सिसकियाँ, सिसकियाँ सिसकियाँ!

मैंने सिर को ऊपर उठाते हुए फिर कहा, "आनन्दी!"

मैंने देखा कि सिसकियाँ आँसू बन कर, बह और टपक रही थीं। मैं मोह नहीं भूल सका। उसी के आंचल से उसके आँसू पोंछने लगा। क्या आनन्दी को रुलाना ही मेरी आदमियत है? वह रो रही थी तो क्या निधि मिल गई मुझे?

कुछ देर के बाद अस्तव्यस्त आनन्दी उठी और बाहर जाने पर तुली। मैं उसे रोक कर खड़ा हो गया। वह उसी अवस्था में खड़ी रह गई। उसने अपनी कोई गति प्रकट नहीं की। वह एक मूर्ति की तरह अचल खड़ी थी। वह लड़की अकसर बड़ी लुभावनी लगी है। अब भी वैसी ही तो थी। उसका धुला चेहरा स्पष्ट साफ-साफ दीख पड़ता था। जब से आनन्दी आई है, वह खुल कर बातें नहीं करती है।

क्या वह मुझे अपना सारा दिल नहीं दे चुकी है? अपने जीवन के अणु-अणु में उसे रमी पाता हूँ। लगता है कि वह मेरे जीवन में गति की तरह है। कभी वह मुझे जीवन की ऊपरी सतह में तैरती मिली है। मैं उसके आगे बड़ा नहीं। अब वह फिर आगे दरवाजे की ओर बढ़ना चाहती थी। मेरे हृदय में पीड़ा हुई, मैं तिलमिला कर बोला, "सुनो आनन्दी!"

आनन्दी खड़ी हो गई। चुपचाप सब बात जैसे कि सुनेगी। उसे मेरा हुक्म मान्य है। वह तो खड़ी ही रही। मैं भूल गया कि क्या कहूँगा। वह खड़ी थी। उसमें बड़ी देर तक कुछ सुनने की उत्सुकता रही। जब मैं कुछ नहीं बोला तब वह आगे बढ़ने को छटपटाने लगी। मेरे मन में अकुलाहट उठी। आनन्दी सिर नीचा किये क्या फैसला सुनने को तैयार थी? क्या वह इस तरह खड़ी ही रहेगी। मैं चुपचाप एक ओर हट गया। फिर कहा, "तुम बाहर जाना चाहती हो, चली जाओ। मैं रोकूँगा नहीं। मैं रोज तुमको दुःख देता हूँ।"

किन्तु यह क्या! आनन्दी बाहर नहीं गई। वह वहीं पर खड़ी थी। एक बार उसने आँखें ऊपर उठाईं। वे सूजी और लाल थीं। मैं समझ गया कि मैं एक निर्दयी जीव हूँ। यह अच्छा खेल नहीं है। आनन्दी परवश है। पति उसका सर्वस्व है। वह पति को कब कुछ कहती है? वह लाड़-प्यार में पल कर बड़ी हुई है। मायके वाला स्वभाव एक दिन में नहीं बदलता। मुझे उसे परेशान करना कहाँ तक उचित था? वह अपने दुष्ट पति को कोसती नहीं है। यह सब तो नारी की अधीनता है। पति उसके जीवन का केन्द्रस्थल है।

एक बार फिर आनन्दी ने मुझे घूरते हुए देखा। वह आँखें कह रहीं थीं—रास्ता छोड़ दो, मुझे जाना है। अपनी पुरुष सामर्थ्य अपने पास रक्खो। इस तरह राह रोकनी उचित बात नहीं है। हट जाओ। मैं तुमसे बाज आयी। मैं जो कुछ कहती हूँ वह मेरा अपना ही स्वार्थ थोड़े है

तुम्हारी तो मजाक होगी। मुझ पर जो बीतती है। तुम इसका अनुमान लगा सकते, तो धन्य हो जाते! तब तुम्हारा यह आडम्बर नहीं चलता। मैं तुमको अच्छी तरह जान गयी हूँ। अपने घमंड के आगे किसी की थोड़े ही मानोगे। ऐसा गुरु भी सार्थक होता है। मैं बुरी हूँ, निकाल दो। मैं कुछ नहीं कहूँगी। यह सब तो आजीवन सहना ही पड़ेगा। जब आपस में नहीं पटती, मेरे खोटे भाग्य का दोष है!

आनन्दी खड़ी-की-खड़ी रही। दरवाजे की ओर देखा। बाहर भी दृष्टि गई होगी। फिर आँखों से कमरे के भीतर वाली चीजों को ताकने लगी। अब वह बीस साल की युवती कहाँ लगती थी? वह तो छोटी लड़की की तरह एक वस्तु का अन्दाज लगा रही थी। जैसे कि पहाड़े याद कर रही हो। मैं फिर बोला, "तुम जाओ-जाओ अब कोई वैसी बात नहीं है। जाकर काम करो। आज इस तरह खाली रहना तुमको कैसे सुहा रहा है? और दिन तो........!"

वह टस-मस नहीं हुई। उसे शायद डर था कि यह भी कहीं कोई तीखा व्यंग तो नहीं है। या मैं उस हारी-थकी लड़की को और कड़ुवी घूँट पिला रहा हूँ। अब के मैंने समझाया, "सच तुम चली क्यों नहीं जाती हो? नौकर तरकारी ले आया है। तुम मन में न जाने क्यों कुढ़ती हो? यह गृहस्थी इस तरह कै दिन चलेगी।"

आनन्दी बात को तोल और समझ कर मेरी ओर आँखें फैलाकर देखने लगी। मैंने बात का समाधान करते कहा, "यह तो चाय का वक्त ही टला जा रहा है। क्या भूखा रहना पड़ेगा?"

आश्चर्य में मैंने पाया कि उसका विद्रोह एक बार और सुलग गया। मैंने उसका वह फीका चेहरा लाल पड़ता भाँपा। तुनक कर, असहाय सी बोली, "मैं मायके जाऊँगी।"

"मायके!" मैं अजरज में पड़ गया।

"हाँ, मैं मायके जाऊँगी।" वह सावधानी बरतती हुई बोली।

"तुम बड़ी देर में सोच पायी हो।"

"मैं जाऊँगी ही!"

"लेकिन मेरा अपना 'मायका' मुझे प्यारा है?"

"भैया को बुलवा दो। आपको कब पहुँचाने को कहती हूँ?"

"खुद ही न लिख लो। भला अपने हकों की 'डिगरी' की लिखत पढ़त मैं कैसे कर सकता हूँ?"

"आप कुछ……!"

"नहीं, नहीं, तुम जाना चाहो, चली जाओ। मुझे अकेले रहने की आदत है।"

आनन्दी फिर चुप हो गयी। बाहर न जाकर, उसी तरह खड़ी रही। मैं बड़ी देर तक उत्तर की प्रतीक्षा करता रहा। आनन्दी जमीन पर आँखें गड़ाये हुए वहाँ कुछ ढूँढ़ रही थी। एक जगह उसकी आँखें स्थिर रह गयीं, जैसे कि वह कुछ पा गयी हो। फिर उसने आँखें ऊपर उठाईं। मुझसे कुछ कहने को थी कि झिझक कर रुक पड़ी! मैं उसके शरीर में फैलती सिहरन को भाँप गया। मैंने परिस्थिति सम्भालते हुए कहा, "तुम जा सकती हो। मायके जाना तुम्हारा अपना अधिकार है। अपने मान को भी साथ लेकर जाना, जिससे खुद ही लौट आओ। यह सब तो खैर दूर की बात है। चाय-वाय मिलेगी या नहीं। पूरे चार घंटे तो कट गये हैं। नहीं तो अब होटल ही जाना पड़ेगा।"

आनन्दी का सारा गुस्सा निचुड़ चुका था। वह चौंक कर बोली, "पाँच बज गये हैं! मैं भी कैसी हूँ।" और बाहर चली गयी।

कुछ देर बाद चाय आयी। आनन्दी प्याली में चाय बनाने लगी। चाय की चुस्की लेते हुए मैं बोला, "लीचियाँ कहाँ हैं?"

"मेहतरानी को दे दीं।"

"मायके की अमानत, सारी टोकरी को।"

"क्या करते उनका?"

"क्या?"

"सब सड़ी थीं। उन लोगों ने ठीक तरह नहीं भेजीं।"

"और मैंने भी तो उनकी बुद्धि की तारीफ की थी। तुम तब समझी कि मैं कोस रहा हूँ। साइकिल पर चढ़ कर दो मील स्टेशन का सफर तय किया, टोकरी ला कर मिलीं सड़ी लीचियाँ!"

"लेकिन तुम बार-बार मेरे मायके वालों को न जाने क्या-क्या सुनाया करते हो? क्या यह अच्छी बात है?"

"इसीलिए न कि तुमको उन्नीस साल पाल-पोस कर मुझे सौंप दया। यह क्या उनकी बुद्धिमानी का नमूना नहीं है?"

"चुप भी रहो।"

"अब तो गुस्सा नहीं हो।"

"चलो भी!" आनन्दी मुस्कराई।

मैं चाय की चुस्कियाँ ले रहा था।

उस महायुद्ध में

"तुम घटना पर विश्वास नहीं करते और मैं यह मान बैठा हूँ कि यह दुनिया घटनाओं के जाले के अलावा कुछ नहीं है। इन्सान की जिन्दगी इसी पर पूरी-पूरी निर्भर है। हमारी भावुकता, भावना और काम-काज सब कुछ, पूरा-पूरा रोज की होने वाली घटनाओं पर टिका है। यह बीते दिन आखिर कुछ घटनाओं की यादगार हैं और वह अनजान भविष्य कुछ आशावादी घटनाओं का जाला है। हड्डी-मांस के शरीर का सारा आधार उन पर ही है। लेकिन तुम हँसोगे कि यह सब एक बकवाद है। आज इस युग में, जब कि सब बातें मनोविज्ञान की कसौटी पर परखी जाती हैं, जीवन-अनुभवों को किसी और बाट से तोलना गलत होगा। लेकिन मैंने दुनिया की काफी छान-बीन की है। मैं इन्सानी जजबात को पहचानता हूँ। उस सब के बाद ही मैंने यह कहना उचित समझा।"

यह कह कर, वह बूढ़ा फौजी कैप्टेन चुप हो गया। उसकी गरम वर्दी पर जहाँ पिछले महायुद्ध के यादगार-स्वरूप कई निशानियाँ लगी थीं, मेरी आँखें अटकीं। उसके चेहरे पर तो कहीं कोई खुरचन नहीं थी। यदि उसके सिर के बाल सुफेद रेशों की तरह चमकीले न होते, तो वह तीस-पैंतीस साल का जवान लगता। लम्बा कद, चौड़ी छाती और शरीर के गठन में एक व्यक्तित्व था, जो दिल पर फैल जाता।

वह अफसर उस जाड़े की कड़कड़ाती रात में सेकिंड क्लास वेटिंग रूम की कुर्सी पर चुपचाप बैठा हुआ रेलवे के स्टाल से खरीदा कोई पत्र पढ़ रहा था। जब मैंने उस कमरे का दरवाजा खोला तो वह उसके खटके की आवाज की अवहेलना करके भी पढ़ता ही रहा। वह अपनी धुन में मस्त

था। फिर बड़ी देर तक पढ़ते रहने के बाद, उसने वह पत्र झुँझलाहट से मेज पर पटक दिया। उसके मुँह से निकला, "युद्ध ! फिर एक महायुद्ध !!"

एकाएक उसका चेहरा मुरझा गया। उसका गुलाबी रंग भी हट गया और वह मौत के प्रतीक की तरह सुफ़ेद दीखने लगा। अब वह हड़बड़ी में उठा। उसने अपनी कलाई पर बँधी हुई घड़ी देखी। वहीं उसका नाम अजीब बेडौल अक्षरों में गुदा दीख पड़ा। चमड़े के मोटे पट्टे के सहारे वह बड़ी सी घड़ी बँधी हुई थी।

वह बड़ी देर तक उस घड़ी को टकटकी लगा कर देखता रहा। कुछ देर के बाद उसने वह घड़ी कान से लगा ली। खुश होकर सिर हिलाया और फिर एक बार टाइम देखा। उसने अब मेज पर पड़ा हुआ पत्र उठा लिया। उसके पन्ने पलटे और उसे ठीक तरह संभाल कर रख दिया। फिर कुछ सोच कर उसने अपने ओवरकोट की जेब पर से सिगार-केस बाहर निकाला। एक सिगार मुँह से लगा लिया और जेब टटोलने लगा। बड़ी देर तक बेकार ढूँढ़ने के बाद भी जब उसे दियासलाई नहीं मिली, तो वह मुझ से बोला, "मिस्टर आपके पास 'मैचबाक्स' होगा ?"

मैंने दियासलाई की डिबिया दे दी। उसने सिगार सुलगा लिया और मुझे धन्यवाद देकर फिर कुर्सी पर बैठ गया। चुपचाप सिगार का धुँआ उगलता रहा। मेरे मन के भीतर बार-बार उस वातावरण में फैली हुई युद्ध की बातें उठ रही थीं कि वह व्यक्ति एक युद्ध के बाद आज दूसरे महायुद्ध में शामिल होने जा रहा है। तब और आज के जमाने में कितना अन्तर है। दुनिया तो तेजी के साथ बदल गयी है !

मैंने एक भारी उलझन में देखा कि उसने अपनी जेब से बटुआ निकाला। उसे खोल कर कुछ गौर से देखा। कुछ देर तक उसे देखता ही रहा। वह किसी रमणी की तस्वीर थी। फिर उसने बटुआ बन्द कर

सावधानी के साथ, अपनी वास्कट की जेब में डाला। अब उसका चेहरा और चिन्तित दीख रहा था। उस समय वहाँ एक चुप्पी फैल गयी। मैं कुछ समझ नहीं सका। असमंजस में एक सवाल पूछ डाला, "क्या आप लड़ाई पर जा रहे हैं?"

"लड़ाई! हाँ, मैं एक भारी उम्मेद के साथ वहीं जा रहा हूँ।"

"उम्मेद?" मैंने यह सवाल पूछ ही डाला।

"वह मुझे उम्मेद ही लगती है। लड़ाई में घटनाएँ बड़ी तेज़ी से आती हैं। कभी-कभी तो एक अनिश्चित भविष्य दिलासा देने में नहीं चूकता है। वहाँ मौत हर घड़ी आंचल पसार कर खड़ी मिलेगी। फिर भी जीने का कुतूहल कोई नहीं भूलता?"

"तो यह घटनाएँ.........!"

मैंने पूरा वाक्य कहा भी नहीं था कि उसने मेरी बात काट कर, घटनाओं के विश्वास-अविश्वास पर अपनी राय दे दी। सब कुछ कह कर वह गम्भीर हो गया।

मैंने वह सब सुना। सुनकर बड़ी देर तक उस पर विचार करता रहा। सोचा, यह इस व्यक्ति की जीवन पर कैसी व्याख्या थी? उस पर दलील करना आसान नहीं है। वह व्यर्थ होता। वैसे यह तो सभी जानते हैं कि अवसर और घटनाएँ व्यक्ति के जीवन पर असर डालती हैं। क्या तब वह वहीं रुका खड़ा रहे? लेकिन मैं चुप रहा। किसी की धारणा पर अपनी राय देनी अनुचित लगा। बड़ी देर तक उस कमरे में सन्नाटा छाया रहा। उस जाड़े की रात को ठंड हड्डियों के भीतर पहुँच कर कँपकँपी फैला रही थी।

वह वहीं मेज पर सिगार की राख को फैला कर, उस पर अपनी उँगली से कुछ लिखकर बार-बार मिटा देता। न जाने कितनी बार उसने कोई नाम लिखा और उसे मिटाया होगा। आखिर न जाने क्या सोच कर उसने पूछा मुझसे, "आप क्या करते हैं?"

"मैं······!"

"हाँ, आपका पेशा क्या है ?"

"मैं एक समाचार पत्र का सम्वाददाता हूँ।"

"सम्वाददाता !" वह सँभल कर बैठ गया।

"क्यों, क्या यह ठीक पेशा नहीं है ?" मैंने पूछा।

"यह पेशा ! आप भाग्यवान है। आपको दुनिया के लोगों के बीच चलने का रोज मौका मिलता है। अच्छा यदि आप अपने रिसाले में मेरी इस मुलाकात का हाल भेजेंगे तो क्या लिखेंगे ?"

"फौजी अफसर और अज्ञात रमणी," मैं सरलता में बोल बैठा।

"रमणी ?" उसने जोर से दुहराया। बस ठहाका मार कर हँस पड़ा। वह आवाज उस भारी शीत वाली कँपकँपी को चीर कर दिल में प्रतिध्वनित हो उठी।

लेकिन मैं चुप ही रहा। तो वह अपने को सँभाल कर बोला, "आप लोगों की आँखें बिल्ली की निगाह से बाजी मार ले जाती हैं। अच्छा आपने यह कैसे अनुमान लगा लिया कि ऐसी बात मेरे जीवन से लगाव रखती है ?"

उसकी उत्सुकता पर मैंने कहा, "यह आपका एकसा धारणा वाला सवाल है। आपने वह पत्रिका पटक दी। जरूर ही उस में कोई दुःखान्त प्रेम-कहानी आपने पढ़ी है। सिगार सुलगाने के लिये आपने मुझे से दियासलाई माँगी, जब कि आपकी अपनी दियासलाई वह सामने मेज पर पड़ी है। अपनी घड़ी पर आपको सन्देह हुआ। इस सब के बाद आपने फोटो निकाल कर देखा है। अपनी भावुकता के लिए वही हथियार आपको जँचा। उस तसवीर वाली रमणी पर आपके सारे विचार इस वक्त भी केन्द्रित हैं।"

वह बोला, "आप ठीक ही कह रहे हैं। जीवन में सन्देह करना ठीक नहीं। उससे कुछ हासिल नहीं होता है। आजकल मैं खुद न

जाने क्यों इतना अधिक भावुक बन बैठा हूँ। युद्ध की खबरों से मन में एक अज्ञेय उमंग उठती है। तभी मेरे दिल के किसी कोने में छिपी एक याद बाहर फूटने को तैयार मिलती है। उस महायुद्ध में, सुना तुमने !"

"क्या ?" मैंने पूछा। उसका गला भर आया था। मैं अचरज में उसे देखता ही रह गया।

वह कुछ देर बाद सावधान होकर बोला, "तुम अभी उसी नाजुक उम्र को पार कर रहे हो, जहाँ रमणियाँ एक कुतूहल बिखेर कर छिप जाती हैं और पुरुष निराश हो जाता है। लेकिन उस महायुद्ध में......!"

उसने मुझे देखा और फिर कहना शुरू किया, "हम लोगों को दुश्मनों ने घेर लिया। रसद चुक गयी थी। सब लोगों को विश्वास हो गया था कि हम लोग जल्दी ही मर जायेंगे। मैं अपने कर्तव्य से विमुख न होकर उस डिपो की ढूँढ़ में निकला, जो हमारे लिए रसद भेजता था। वह हमारी खाई से ६५ मील की दूरी पर था। भूखा-प्यासा एक बड़ा रास्ता मैंने तय कर लिया। मैं दुश्मनों की नजर से छिप कर चुपचाप आगे बढ़ जाता था। वह रात कितनी काली थी। कभी कभी तो तोपों की गरजना सुनाई देती तो फिर गोलियों की आवाज ! कभी रंग-बिरंगी रोशनियाँ आकाश में झिलमिला उठती थीं। लेकिन मैंने मौत को भी धोखा दे दिया। रात भर चलता रहा। मुझे पूरी उम्मीद थी कि मैं अपने काम में सफल होऊँगा। आखिर मैं बड़ी रात गुजरे डिपो के पास पहुँचा। उस वक्त मेरा दिल एक भारी उत्साह से भर गया। मैं बहुत खुश था और मैंने आफिसर कैम्प के पास पहुँच कर इत्तला करवाई। वह आफिसर लेटा हुआ आराम कर रहा था। मुझे देख कर चौंका। झल्ला कर बोला, 'आप यहाँ क्यों आए हैं ? मैं कुछ नहीं कर सकता।'

"मैंने उसे सारी परिस्थिति समझाई। लेकिन उसने कोई उत्साह

नहीं दिखाया। मेरे बहुत कुछ कहने पर उसने आखरी बात कही कि रसद भेज दी गई थी। अब वह क्या करे ?

"बस मैं चुपचाप बाहर चला आया। मैं उस ऑफिसर को भली भाँति पहचानता था। वह और मैं मिलिटरी कालेज में साथ-साथ पढ़ते थे। वह एक युवती से प्रेम करता था। वह चाहता था कि उसी से उसकी शादी हो जाय। लेकिन उसकी पहुँच गलत थी। उसने उस युवती के आगे अपने प्रेम को खोल कर रख दिया। ये लड़कियाँ खुशामद करने वाले पर अपना रोब गालिब करने में प्रवीण होती हैं। उनको अपना बनाने के लिये, ऐसा रुख अख्तियार करना चाहिए कि जैसे आप उनकी उस कोमल जाति की अवहेलना कर रहे हों। यदि आप परवा करेंगे और सूचित कर देवेंगे कि आप उनसे प्रेम करते हैं, तो बस वे आपका मखौल उड़ावेंगी। लेकिन मैंने एक दिन देखा कि वह युवती मेरे प्रेमपाश में चुपचाप फँसी थी। उसने एक संध्या को अकस्मात मेरे कमरे में प्रवेश किया और वही अपनी जात वाली कमजोरियाँ जाहिर कर रोने लगी। मैं बात नहीं समझा कि मैंने किसी की आहट पाई; और एकाएक उस कमरे में जहाँ अभी तक अँधियारा था, रोशनी हुई। मैंने देखा कि मेरे फौजी दोस्त वहाँ चुपचाप खड़े हैं। एक बार उन्होंने घृणा से मेरी ओर देखा। कुछ कहना ही चाहते थे कि वह युवती तपाक से बोली, 'आप इसी तरह लुच्चे और बदमाश की भाँति मेरा पीछा किया करते हैं। यही है आपकी शराफत। इसी के साथ आप मुझे बदनाम कर रहे हैं। आपकी और मेरी शादी होनी असंभव बात है। मैं अब भविष्य में आप को अपनी आँखों के सामने नहीं देखना चाहती हूँ।

"दोस्त का चेहरा गुस्से से लाल पड़ गया। एक बार उसने अपनी जेब से 'पिस्टल' निकालनी चाही, फिर न जाने क्या सोच कर मुझे भारी घृणा से घूर कर बाहर चला गया।

"अब उसी व्यक्ति से उस आश्रयहीन दुनिया में वास्ता पड़ा था। मैंने इस वक्त भी उसकी आँखों में वही घृणा पायी। मैं लाचार था। उस दिन के बाद फिर मैंने उस युवती को खुद नहीं देखा था। लेकिन हमारे बीच वाली रुकावट सुलझ नहीं सकी थी। मैं कई बार उस अफसर से मिला। हर बार उसकी आँखों से शैतानी टपकती थी। मैं क्या करता? अब मैंने आखिरी खुशामद करके बिदा ले ली। चुपचाप निराश होकर दूसरे डिपो की ढूँढ़ में निकला। मन में सोचा कि यह इन्सान किस धातु का बना है कि वक्त नहीं पहचानता और जीवन भर छोटी-छोटी बातों से अपने को तोलता रहता है। तो भी कुछ नहीं कहा। अपने मन को समझाया-बुझाया और दूसरे डिपो की ओर रवाना हुआ। अब मुझे यही करना था।। उतने आदमियों को दिलासा दे कर भला मैं चुपचाप कैसे खाली हाथ लौटता? मुझे यह घटना हमेशा याद रहती है। उसके बाद की कहानी मेरी अपनी नहीं है। उसमें और भी शामिल हैं। राह में वही लड़ाई जारी थी। युद्ध के समीप वाली लाइनों से गुजरना खतरे से खाली नहीं होता। मैंने उस सब की परवाह नहीं की। मुझे बार-बार उस रमणी की कातर और उस अफसर की खूनी आँखें याद आतीं। उनके बीच में अपने जीवन को चुपचाप एक अनिश्चित समय की ओर ले जा रहा था। मुझे निराशा न हुई। मैं प्रेमियों की तरह भावुक नहीं हूँ। न छोटी-छोटी घटनाएँ ही मुझे विचलित करती हैं। वह युवती बहुत सुन्दर थी। तुमसे एक युवती प्रेम की भिक्षा माँगे और तुम उसे ठुकरा दो। यह क्या अपराध नहीं माना जा सकता है? उस युवती का वह प्रेम, उस महायुद्ध में मौत का वारण्ट लिखवाने को तुला। यह प्रेम कभी-कभी मूक फैसले दिलवाने को उकसाता है। लेकिन......!"

बस वह फौजी अफसर चुप हो गया। आगे कुछ नहीं बोला। मैं बड़ी देर तक उसकी ओर देखता रहा। लेकिन वही चुप्पी! अब

उसने फिर एक बार वह समाचार-पत्र उठा लिया और उसके पन्नों को पलटने लगा। इस तरह एक अधूरी बात सुन कर मैं मन ही मन झुंझला उठा कि आगे क्या हुआ होगा? इसी लिए पूछ डाला, "उस रात फिर क्या हुआ था?"

"क्या?" वह चौंका। फिर बोला, "उस रात! पच्चीस साल के करीब गुजर चुके हैं। क्या हुआ खुद मुझे मालूम नहींहै?"

"आपको मालूम नहीं है?"

"उसके बाद की घटनाएँ स्मृति में धुंधली पड़ गयी हैं। कई महीनों के बाद मुझे मालूम हुआ कि मैं वहाँ घायल हो गया था। उस बहादुरी की एवज में सरकार ने यह......।" उसने अपना वह फौलाद व और धातुओं का बना तमगा बड़े गौरव से मुझे दिखलाया।

"आपके दोस्त और रमणी!"

यह सुनकर वह खिलखिला कर हँस पड़ा। बड़ी देर तक खुद ही हँसता रहा। आखिरकार बोला, "सुनो, पिछले हफ़्ते सब पुराने अफसरों को बुलाया गया था। वहाँ वह दोस्त मिले। वह मुझे देखते ही आश्चर्य में बोले, 'आप यहाँ?'

"और तुम?" मेरा सवाल था।

"तो वह जल्दी-जल्दी बोला, 'खुद हमारा डीपो दुश्मनों ने घेर लिया था। जिस तरफ तुम जाना चाहते थे, उधर ही से दुश्मन आये। शायद तुम उधर जाते, तो न हम डीपो की रक्षा कर सकते, न तुम ही जीवित रहते। मेरा वह अकर्तव्य तुम्हारे हित में ठीक ही हुआ है। अब मुझे माफी दे दो। तुम जानते ही हो कि मनुष्य कभी-कभी भयानक भूलें करता है।'

"मैंने देखा था कि हम लोग एक बड़े जमाने को कुचल एक बड़ी उम्र पार कर बूढ़े हो चुके थे। वह जवानी वाला गुस्सा और उत्साह किसी में बाकी नहीं था। फिर एक अनिश्चित आधार पर मैंने पूछ ही

डाला, 'उस रमणी का क्या हुआ ?"

'क्या हुआ ! क्या हुआ !! तब शायद आप अखबार नहीं पढ़ते हैं। वही हुआ जो मुझे उम्मीद थी। उसने विवाह नहीं किया। इसी तरह युवकों के पास मारी-मारी फिरती रही और एक दिन उसने आत्म-हत्या कर ली। यह तो बड़ी पुरानी बात हो चुकी है।'

"मैंने इस बात पर अपनी कोई राय नहीं दी।"

वह कैप्टेन चुप हो गया। जैसे कि उस रमणी की याद ने उसका दिल कोमल बना दिया हो। लेकिन बड़ी देर तक चुप न रह कर बोला, "और सच कह दूँ, मैंने उसी रमणी के लिए जीवित रहने की कोशिश उस रात, उस महायुद्ध के चंगुल में की थी। उस युवती का वह प्रेम मुझे भारी दिलासा दिया करता था। जब मैं युद्ध के लिए रवाना हुआ, तो उसने यह फोटो मुझे दिया था। लेकिन मैं वह बात भूल गया। युद्ध से लौट आने पर वह सारा उफान निपट चुका था। मैंने एक अच्छे घराने में शादी की। युद्ध के बाद एक शान्ति फैली थी। आज मैं पिता हूँ और मेरे पास सब कुछ है। फिर भी उस रमणी की याद भूल नहीं सकता।"

—एक सम्बाददाता की ईमानदारी को पूरी-पूरी निभाने के लिए ही यह सब लिखा है। जैसे कि इन दो महायुद्धों के बीच 'भावुकता' एक बार चुपचाप उठकर फिर अपना खेल खेलेगी।

मोम की मूर्ति

चीफ मिनिस्टर के यहाँ से दावत में शामिल होने का निमन्त्रण पा कर प्रमोद कुमार को कुछ आश्चर्य हुआ। उस परिवार से वह खूब परिचित था। लेकिन अपने पारिवारिक झमेलों में, जिसका टिमटिमाता दिया छोड़कर उसके पिता गुजर चुके थे, वह इतना उलझा और व्यस्त रहता था कि उसे इधर-उधर देखने की बिल्कुल फुर्सत नहीं थी। पिता की मौत से एक दिन पहले वे अच्छे बँगले में रहते थे। दो मोटरें थीं और चार नौकर-चाकर और खुशामदी घेरे रहते थे। और आज? आठ महीने के बाद पिता के ओहदे की शान नहीं थी। अब उनका समाज और सोसाइटी में कोई स्थान नहीं था। किसी को उनकी परवा कहाँ थी? पिता के इन्सोरेन्स के कुछ रुपये और रियासती वजीफे से तीन छोटे भाइयों की पढ़ाई चालू थी। साथ ही दो बहिनों की शादी की चिन्ता से परिवार पर बल पड़ गया था। शहर के एक छोटे किराये के मकान तक ही उनका जीवन सीमित था। वे लोगों की सहानुभूति की सीमा के पार लग गये थे। अनावश्यकीय फर्नीचर और दो मोटरें 'सेकिण्ड हैंड' बिक जाने को दूकान पर पड़ी हुई थीं। विलायती कुत्ते का जोड़ा और घोड़ा एक अँगरेज अफसर को इतना पसन्द आया कि परिवार वालों ने कोई रोक न की। वही घर जहाँ पफ-पाउडर, सेंट, रंग-बिरंगी साड़ियों और शानोशौकत का व्यापार था; आज काम चलाऊ बातों पर टिका हुआ था।

फिर भी प्रमोद संध्या को दावत में गया। वहाँ उसने देखा कि भले ही उसकी दुनिया बदल गयी है, जमाना उसी पुरानी रफ्तार से चल रहा है। वही हँसी है, खुशी है और चुहल। बाग में लम्बे-चौड़े

मैदान की हरी-हरी दूब पर छोटी-छोटी टेबुलें बिछी हुई थीं। उनमें स्टेट के कर्मचारी बैठे हुए थे। उसने देखा कि एक ओर सामने जरा हटकर मनोरमा किसी फौजी युवक के साथ बैठी है। मनोरमा उसे देख कर समीप नहीं आई। वह आगे बढ़ना चाह कर भी आत्मसम्मान से रुक कर, एक ओर कोने की मेज पर बैठ गया।

उसका जी खाने पर नहीं लगा। दिल पर एक ऐसी सिकुड़न पड़ गई थी कि मन उदास और भारी हो आया। मनोरमा के इस व्यवहार ने सारी बात फीकी कर दी थी। उसके हृदय में ज्ञेय-अज्ञेय बने बनाए, दुःख, पीड़ा, निराशा और वेदना के भाव खेलने लगे। अपने को पकड़कर रखना चाह कर भी मन बाहर हो रहा था। उसे अपने से, अपने जीवन से और अपने व्यक्तित्व की उपेक्षा से घृणा हो रही थी। अपने से बाहर, एक अजीब स्पर्धा खड़ी मुसकराती लगती थी। खा-पीकर निबट, उसने अपना सिगरेट केस निकाला और चुपचाप सिगरेट के धुएँ में अपने को खो देने की धुन में था कि देखा, मनोरमा उस युवक के साथ उसके समीप आई और एक व्यवहारिक नमस्ते कर बोली, "मि० प्रमोदकुमार ......!" जरा रुक कर युवक को सम्बोधित करते कहा, "लेफ्टिनेन्ट ज्ञानचन्द जी! आपके पिता मि० व्यास पिता जी के परम मित्र थे। पिछले हफ्ते आप यहाँ शिकार खेलने आए हैं।"

प्रमोद और लेफ्टिनेन्ट ने हाथ मिलाए। मनोरमा अपनी रिस्टवाच देखकर गुनगुनाई—साढ़े नौ! फिर बोली, "जल्दी चलिए, नहीं तो 'शो' के लिए देरी हो जावेगी।"

प्रमोद ने मनोरमा और लेफ्टिनेन्ट की सुलझी नमस्ते पाई। देखा कि सभ्य-समाज की तितली अपने लम्बे छरहरे बदन को लाल चौड़े पाट वाली काली सिल्क की साड़ी से ढक 'कार' पर बैठ कर चली गई। उसने दूर तक जाती हुई 'कार' देखी।

आखिर प्रमोद चुपचाप घर लौटा। आज जिन्दगी में पहली बार

वह सोच रहा था कि उसने कुछ नया अनुभव पाया है। उसे अपनी हार या जीत का प्रश्न हटा कर भी प्रसन्नता नहीं थी। वह अपने कमरे में जाकर चुपचाप कपड़े उतार रहा था कि उसकी बहिन ने आकर पूछा, "मनोरमा मिली थी ?"

"हाँ।"

"उसने क्या कहा ?"

"कुछ नहीं।"

वह समझदार लड़की प्रमोद का सारा जवाब पाकर समझ गई कि आगे और कुछ पूछना बेकार है। बस चुपचाप बाहर चली गई। आज प्रमोद को लगा कि मनोरमा उसकी सम्पत्ति है। आठ महीने तक वह दुःख में उसे भूला रहा। लेकिन क्या इससे पहले कभी ऐसा प्रश्न उठा था ? 'नहीं', जवाब मिला। उसने यही सोचा कि मनोरमा भले ही उससे हट जाना चाहे, वह उसके बिल्कुल समीप पहुँच रहा है। यह जानकर भी कि मनोरमा कि जो अपनी दुनिया है, वहाँ अब उसका कोई स्थान नहीं रहा है। वह फिर भी जिस मनोरमा को कई साल से जानता था। जिसे उसने सलवारों से साड़ी में बदलते देखा। जिसे उसने बच्चों की अबोध हँसी से चुटकियों तक भाँपा और जिसे जवाब देते एक दिन अटकते भी पाया। क्या वह उस मनोरमा को भूल गिने ? आज तक भले ही उसने इन बातों पर विचार न किया हो, पर आज वह उनको तोल कर अलग-अलग रख साबित कर रहा था कि अपनी सम्पत्ति को वह कभी दूसरे के हाथ नहीं जाने देगा। वह उसे फिर अपने में मिला लेगा। अलग नहीं—नहीं ही होने देगा। बड़ी रात कट जाने पर जब उसे नींद ने पकड़ा, तो वह अपने होश-हवास में नहीं था।

जब सुबह उसकी नींद टूटी तो वह उन्हीं टूटे-फूटे बिखरे विचारों पर सोच रहा था। उनको सँवारता जाता। वह बड़ी देर तक अपनी

ही गुन-गुन में खोया रहा गया। आखिर वह कुछ सोचकर उठा और अपनी बहिन के कमरे में जाकर बोला, "शीला तुम कब से मनोरमा के घर नहीं गयीं ?"

"चार महीने से ऊपर हो आया है।"

"तो आज वहाँ हो आओ।"

शीला न जाने कब से मनोरमा के घर जाने की सोच रही थी। लेकिन बात अन्दर की अन्दर रह जाती। उसे आज अपने भैया की बात पर आश्चर्य हुआ।

शीला नौकर के साथ ताँगे में बैठ कर मनोरमा के बँगले की ओर गयी तो साथ में नए डिजाइन का स्लिपओवर ले जाना नहीं भूली। भले ही वह युवती हो चली थी, पर पिता के घर का बचपन साथ था। वह राह भर सोच रही थी कि वह मनोरमा से यह कहेगी, वह कहेगी। न जाने उसने मन ही मन क्या-क्या जमा कर लिया ?

वह बँगले में पहुँच कर ताँगे से उतरी कि देखा, मनोरमा किसी युवक के साथ बैठी हुई है। वह चुपचाप अन्दर चली जाना चाहती थी कि मनोरमा ने पुकारा, "शीला !"

शीला रुक गई। फिर आगे बढ़कर मनोरमा को नमस्ते किया और अपनी शीलता में लजाते, लेफ्टिनेण्ट को मूक हाथ जोड़े। मनोरमा ने शीला को बैठने को कहा। शीला चुपचाप बैठ गयी।

मनोरमा उस युवक से अपनी ही बातें करने में मग्न थी। युवक उसका जवाब देते-देते बार-बार शीला को देख लेता था। शीला चुपचाप बैठी थी—बैठी ही रही।

कुछ देर के बाद युवक बोला, "मनोरमा, इनका परिचय तो आपने दिया ही नहीं ?"

मनोरमा जरा चौंकी, फिर बोली "यह प्रमोद की बहिन हैं—शीला।"

और लेफ्टिनेन्ट ने एक बार शीला को देखा। शीला ऊब कर अन्दर जाने को छटपटा रही थी। आखिर बोली, "मैं चाची के पास जा रही हूँ।"

वह चुपचाप उठ कर चली गयी। मनोरमा ने इस पर ध्यान नहीं दिया। पर ज्ञानचन्द ने एक बार जाती हुई शीला को देखा और मनोरमा से पूछा, "शीला कौन सी क्लास में पढ़ती है?"

"अब के मैट्रिक का इम्तहान देगी।"

शीला ने अन्दर चाची से जो कुछ पाया, उसमें वह मनोरमा के व्यवहार को भूल गयी। वह बातों से इतना समझी कि मनोरमा का जीवन लेफ्टिनेन्ट से बाँधने में सारा परिवार सहमत है। वह चाची से बिदा ले, बाहर आकर चुपचाप खिसकना चाहती थी कि लेफ्टिनेन्ट ने पुकारा, "शीला!"

शीला रुक गयी, फिर जरा आगे बढ़ वह पास जाकर बोली, "नमस्ते, मैं घर जा रही हूँ।"

ज्ञानचन्द ने कहा, "कल हमारा 'पिकनिक' का प्रोग्राम है। आप और प्रमोद भी आवें।"

मनोरमा ने पिछली रात सिनेमा में यह प्रोग्राम बनाया था। ज्ञानचंद बिना उसकी आज्ञा के दुनिया भर को निमन्त्रण दे रहा है। वह कुछ सावधान हो बोली, "शीला, कल जरूर आना।"

"भैया से पूछूँगी।" कह कर शीला चली गयी।

प्रमोद मन ही मन एक खिलौना गढ़ रहा था। भले ही वह उसे खिलौना समझ कर सँवार, साड़ी-ब्लाउज में पा फूला हुआ अपनी धरोहर समझ रहा था; लेकिन उसके दिल में एक बात खूब उभर आई थी कि वह मनोरमा से प्रेम करता है। चाहे मनोरमा के हृदय में यह बात न हो; फिर भी उसके दिल के सजे-सजाए खिलौने के 'अपदार्थ' हृदय

में उसने यह बात ठूँस-ठूँस कर भरदी थी। वह जरा समझता कि कमी है, कसर है, तो फिर-फिर उसे पूर्ण-सम्पूर्ण बना लेना चाहता था।

प्रमोद के जीवन की बड़ी साध थी कि वह 'केमिस्ट्री' के लिए अपना जीवन देगा। विज्ञान की इस शाखा से उसका खासा मोह था। पिता व और लोगों की राय ने एम० एस-सी० के बाद उसे वकालत करायी और आजकल वह ट्रेनिंग में था। आज फिर उसे अपने धुन की याद आई, जिसे वह न जाने कब से भूला हुआ था। यूनिवर्सिटी में बेकार समय काटने के लिए उसने इंडस्ट्रीरियल केमस्ट्री में मोम के खिलौने बनाने सीखे थे। आज उसने उन पर ही अपना उलझा चक्र लगा देने की प्रतिज्ञा की। वह अपने मनसूबों में खूब खुश था।

इस समय शीला आई। उसने देखा, प्रमोद आज अपने में खूब व्यस्त है। जब उसके कमरे में आने पर प्रमोद का ध्यान न बँटा, तो उसने कहा, "भैया!"

प्रमोद ने उधर देखा। देखा, मानो उसका दिल कह रहा है—शीला यह क्या कर दिया तूने! मेरी मूर्ति पर गहरी छेनी पड़ गई। सँभल कर बोला, "तू कब आई शीला?"

"अभी आई हूँ। कल आपको 'पिकनिक' का न्योता दिया गया है।"

"पिकनिक का!" गर्व से प्रमोद ने कहा।

"हाँ, लेफ्टिनेन्ट ने आपको और मुझे बुलाया है।"

"लेफ्टिनेन्ट ने!"...प्रमोद ने बात काट चौंकते कहा।

"उन्होंने पहले कहा, तब मनोरमा दीदी ने कहा कि जरूर आना।"

प्रमोद बोला, "तू चली जाना। मुझे कल काम है।"

शीला ने फिर कुछ नहीं कहा और चली गई।

दिन भर प्रमोद बहुत व्यस्त रहा। बाजार से मोम लाया, मोम गलाने को काँच के बरतन, उसे रँगने को केमिकल। छोटी छेनी और कई तेज औजार भी ले आया। वह छोटे-छोटे ढाँचों का आर्डर दे

आया। उसके मन में एक बात आई कि वह मनोरमा के यहाँ नहीं जावेगा। उसने मन में अपनी बात रख लेने की दृढ़ प्रतिज्ञा की। यह भी सोचा कि उसका प्रेम वहीं तक रहेगा कि मनोरमा से वह भीख नहीं माँगेगा। वह अपने प्रेम में आप भले ही खो जाये, पर मनोरमा को जताना जरूरी नहीं। उसने अपने पास के छोटे कमरे में रात्रि को सब सामान सजाया एक ऊँची टेबुल लगाई। इधर-उधर कायदे से सब चीजें संभाल कर, वह बड़ी रात में सोया।

अगले दिन बड़े सुबह उसकी नींद टूटी। देखा, अभी बाहर धुँधली रोशनी है। वह अपने ही कमरे में टहलता-टहलता न जाने क्या सोचता रहा? बड़ी देर के बाद उसने बाहर शीला की आवाज सुनी। समझा कि अब वह जाग गई है। चुपचाप बाहर निकल कर उससे कहा, "शीला तू जाग गई। जल्दी कर, तुझे पहुँचा आऊँ और खुद माफी माँग लूँगा।"

वह आठ बजे शीला के साथ मनोरमा के बँगले पर पहुँचा। देखा कि लेफ्टिनेन्ट और मनोरमा मुस्कराते बातें करते हुए बाग में घूम रहे हैं। ताँगे की ओर मनोरमा की आँखें पहले होने पर भी वह उनके पास नहीं आई। हाँ, लेफ्टिनेन्ट जब आगे बढ़े तो वह साथ थी।

प्रमोद ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए माफी माँगी कि घर के काम-काज की वजह से उसे एक मिनट की फुरसत नहीं मिलती है।

इस पर मनोरमा ने कुछ नहीं कहा। वह अपने में ही कुढ़ता हुआ घर लौटा। आज उसे अपनी जिन्दगी की पहली हार से वास्ता पड़ा था। आज पहले पहल उसकी आत्मा ने विद्रोह किया। हृदय में विप्लव मचा। उसे दिन भर चैन नहीं था। उसे कभी-कभी अपने से घृणा होने लगती थी। तो फिर वह अपनी ही मलिनता में निपट घुल जाना चाहता था। अब उसे मनुष्य, समाज और दुनिया पर ईर्ष्या हो रही थी। यह जिन्दगी का पहला मौका था, जब वह अपने

उपहास से खुद खेल कर खूब रोना चाहता था। आज कोई उसकी आँखों के आगे पिता के खोए मान-सम्मान, शानशौकत की पूरी झाँकी अज्ञेयता से बिखेर रहा था। उसे याद आया कि मनोरमा उसको कॉलेज की छुट्टियों से लौटा देख कर किस उत्साह और खुशी से मिलती थी। अपने अभाव के आगे खुद रोकर जब सन्तोष ने उसे जरा भी न छुआ, तो वह चुपचाप कमरे में जाकर मोम के डलों पर अपना हाथ सफाई से चलाने लगा। अपने हृदय में उठती पीड़ा को, वह मोम के डलों में मिला देना चाहता था कि जो कुछ वह उनसे बनावेगा; वह वास्तविक हृदय न पाकर भी हृदयहीन न कहलावेगा।

आखिर सँध्या को शीला 'पिकनिक' से लौटी। लेकिन लेफ्टिनेन्ट की तारीफ, उसकी ही बातें, खाना बनाने की व्यवस्था, झील के किनारे की घूम-घाम और ब्रिज के 'रबड़'। सब आधे घण्टे तक सुना कर भी वह युवती न समझ सकी कि उसका भाई कुछ और सुनना चाहता है। वह मनोरमा को दूर हटाकर जो कुछ कह रही थी, वहाँ उसका कोई स्थान न था। जब काफी कह लेने पर मनोरमा का जिक्र नहीं आया तो प्रमोद ऊब कर बोला, "शीला, मनोरमा मेरे इस प्रकार लौट आने पर क्या बोली?"

"मनोरमा दीदी तो चुप रही, पर ज्ञानचन्द्र जी जरूर बोले थे कि आपकी गैरहाजिरी ने मजा किरकिरा कर दिया।"

उसी समय बाहर 'कार' का हार्न बजा और शीला तंद्रा से चौंकती हुई बोली। "उफ़, मैं भूल ही गयी। आज सिनेमा का प्रोग्राम है।" कहती-कहती बाहर चली गई। कुछ देर में लौट कर कहा, "चलिए, लेफ्टिनेन्ट आपको और मुझे लेने आए हैं।"

प्रमोद बहाना बनाना चाह कर भी लेफ्टिनेन्ट के अनुरोध पर इन्कार नहीं कर सका। चुपचाप कपड़े पहने और तीनों कार में मनोरमा के बँगले पर पहुँचे। मनोरमा बाग में घूम रही थी। प्रमोद उतर

कर उसे बुलाने के लिए आगे बढ़ा। शीला और लेफ्टिनेन्ट कार में ही रह गये थे।

प्रमोद ने मनोरमा के पास जाकर कहा, "मनोरमा चलो।"

मनोरमा कुछ नहीं बोली। मानो कि सवाल ही न सुना हो। फिर प्रमोद अपने मन की अज्ञात थिरकती खुशी में बोला, "चलो......।"

अब मनोरमा ने कोरा जवाब दिया, "मिस्टर प्रमोद, मैं न आ सकूँगी।"

यह पाकर प्रमोद बोला, "मनोरमा, यह तुम क्या कह रही हो? लेफ्टिनेन्ट 'कार' में बैठे हैं।"

"तो आप चले जाइए। मेरी तबीयत ठीक नहीं है।" मनोरमा तुनक कर बोली।

"मनोरमा आज चली चलो। क्या मैं यह नहीं कह सकता कि चलो? क्या तुम मेरा कहना नहीं मनोगी?

"मिस्टर प्रमोद, आपने यह जलील करना कब से सीख लिया है! आपसे सीधी बात कह दी कि मैं न जाऊँगी। आप जावें।" मनोरमा उबल पड़ी।

"मनोरमा!" हारा प्रमोद बोला।

और मनोरमा अपनत्व का सिक्का जमाते हुए, चुपचाप बँगले की ओर बढ़ गई।

प्रमोद अपने और मनोरमा के बीच की खाई को मापता हुआ कार के पास पहुँचा। सिनेमा जाने का उत्साह न होने पर भी लाचारी से वह सिनेमा गया। मनोरमा के आज के व्यवहार ने सारा उत्साह फीका कर दिया था।

रात्रि को सिनेमा से लौट, खा-पीकर उसने अपना कमरा बन्द किया और पत्र लिखा :

"मिन्नी,

तुम्हारी आज की बात से लगा कि तुम बड़ी दूर चली गई हो। पहले मैं जिस चीज के प्रति लापरवाह था, वह मेरी सम्पत्ति इस तरह मुझसे छिन जावेगी, आज तक कभी नहीं सोचा था। यह सच है कि आज तक मैंने यह नहीं समझा था कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, पर आज लगता है, तुम मेरी हो। भले ही तुम कह दो 'नहीं, यह झूठ है'। लेकिन मेरे दिल में यह बात साफ है। आज तक तुमसे अलग कैसे रहा? मुझे यह सोचकर खुद बड़ा आश्चर्य है। मैं तुमसे कुछ नहीं माँगता हूँ। कुछ चाहना नहीं करता। यही माँगूगा कि तुम मेरा तिरस्कार न करो। मैं कुछ नहीं, मेरा अस्तित्व और व्यक्तित्व कहाँ? मैं अकर्मण्य और हेय हूँ; पर दया का पात्र नहीं। मैंने आज तक जिन्दगी में भीख नहीं माँगी। मेरे लिए भीख का दरजा मौत के बाद आता है। यह मेरी कमजोरी है कि अपने से बाहर तुमको नहीं पाता। बेबसी ही सही। मुझे अपनी ईमानदारी का घमण्ड है। यही मेरी सच्ची धरोहर है। वही तुमको सौंपता हूँ।

मन्नू, क्या तुम इतनी हृदयहीन हो कि मुझे ठुकरा दो। जरा अपने से पूछना, पिछले जीवन के पन्ने टटोलना। पुरुष और नारी हृदय की भावना को समझना! अब तुम समझदार हो। तुमको पूर्ण अधिकार है कि जो चाहो करो। यदि तुम अपने विचार से तोलकर, भावुकता अलग हटा, अपने से फिर भी मुझे अलग करना चाहो—करना। मुझे जीना है। जीना इसी लिए कि तुमको पूरा समझना है। अपने परिवार के उत्तरदायित्व को निभाना है। जानना है कि क्यों मैं तुमको अधूरा लगा? अपने को पूरा बनाकर ही तुमको सौंपूँगा। तुम सिनेमा नहीं आईं। यह मामूली बात थी। बाहरी छोटी-छोटी बातें ही बड़ी बन कर दिल को रुलाती हैं। मेरे पास अपने भारी हृदय को सँभाल लेने को, रोने के अलावा और कुछ नहीं है। अपनी अथाह पीड़ा, वेदना,

दुःख को पी-पीकर जब दिल में नहीं रख सकता तो! पिछले आठ महीने भर बहुत उद्विग्न रहा। कल एकाएक याद आई कि तुम समीप होती तो दुःख हल्का होता। तुम्हारे आगे खूब रो-रोकर मन सुलझा लेता। मुझे यह अधिकार है। भले ही तुम इसे मजाक गिनो—वह सही है। कहीं न कहीं बात रख लेना। बिल्कुल कोरा समझ कर न ठुकरा देना।

मनोरमा, मैं बे माँ का हूँ। पिता की मौत के बाद इतने बड़े परिवार का भार संभाले हुए हूँ। क्या कभी तुम सोचती हो कि दिन भर कई झमेलों से थक जाने पर मैं क्या सोचता हूँ? आज तक मुझे अपने पर सोचने को एक मिनट नहीं मिलता था। अब मेरा हृदय तुमसे खूब झगड़ लेता है। अपने आप तुम्हारी खयाली प्रतिमा गढ़, उसमें अपने मन माफिक बातें भर, उससे हँस लेने के अलावा और कोई चारा नहीं है। काश तुम वैसी बन सकतीं? नहीं, मुझे तुम्हें रोकने का कोई अधिकार नहीं। तुम स्वतंत्र हो, समझदार हो। जो चाहो करना। अपनी व्यक्तिगत बातें खोलना अपने को धोखा देना है। शायद मैं कभी संभल सकूँ!

तुम मुझे कुछ और न समझना। मैं भूला नहीं हूँ। अपने को समझ कर, फिर-फिर अपने को समझता हूँ। कहीं जीवन में रुक जाना नहीं चाहता। रोज ही दिन कट रहे हैं। फिर भी लगता है कि अगले दिन अब और क्या होगा? तुमको चिट्ठी लिख रहा हूँ। तुम शायद इसे कुछ न गिनो। तुमको यह बेकार, व्यर्थ और निर्जीव विडम्बना सी लगेगी। फिर भी अनुरोध करूँगा कि इसे पढ़ना—खूब पढ़ना। पढ़कर अपने को छुपा, अपने हृदय पर एक-एक बात परखना और यदि फिर भी मैं तुमको कोरा लगूँ तो मुझे कोसना। आज तक भाग्य पर मेरा विश्वास न था। जिन्दगी की सुकुमार घड़ियाँ सुझाती हैं—यही भाग्य है। अपनी असमर्थता में मन बुझाना ही भाग्य है।

तुम्हारा,

प्रमोद"

"पुनश्च्य चिट्ठी पूरी नहीं कर पाया। हृदय में एक प्रेरणा उठी कि अब न लिखूँ, शायद कभी तुम मेरी पूरी चिट्ठी पाओगी। वैसे मैंने तुम्हारा नाम बार-बार लिखा है। वही नाम कभी-कभी सोया हुआ स्वप्न में सा पा; जाग उठ, पुकार कर तुमको खो देता हूँ। पर……।"

अगले दिन सुबह को प्रमोद ने अपने छोटे भाई सुबोध को बुलाया और कहा, "तू मनोरमा का घर जानता है न ?"

"हाँ-हाँ, खूब ! उस दिन शीला के ताँगे के पीछे चुपचाप गया था।"

सुबोध चौथी में पढ़ता है। अभी-अभी उसके लिए छोटी नई साइकिल खरीदी गयी है। अब उसे इस बात का पूरा घमण्ड है कि वह चाहे तो सारी दुनिया के कई चक्कर लगा सकता है। प्रमोद ने ही सुबोध के लिये साइकिल ली थी। घर के लोग सहमत नहीं थे। अपने बड़े भाई से उसे पूर्ण श्रद्धा और प्रेम था। साथ ही वह प्रमोद की लेबोरेटरी का असिस्टेण्ट था। जब प्रमोद मोम की मूर्ति गढ़ता, तो सुबोध दरवाजे पर डटा हुक्म बजा लेने मुस्तैद मिलता।

प्रमोद ने उसे लिफाफा सौंपते हुए कहा, "देख, किसी के आगे मत देना। चुपचाप—अकेले में।"

सुबोध चिट्ठी लेकर मनोरमा के बँगले में पहुँचा, तो देखा कि मनोरमा बाहर नहीं है। वह क्या करे ? इधर-उधर झाँका, घण्टी टुनटुनाई। लेफ्टिनेन्ट घूमने से लौटा था कि सुबोध ने उनको नमस्ते किया और पूछा, "मनोरमा जीजी कहाँ है ?"

लेफ्टिनेन्ट उसे अन्दर ले गया।

मनोरमा ने देखा कि सुबोध है। सुबोध को मनोरमा खूब प्यार करती थी। इसका कारण यह था कि सुबोध की अवस्था का उसका छोटा भाई मर चुका था। वह सोफा पर से उठती हुई बोली, "सुबोध आज बहुत दिनों में आया।" फिर उसे प्यार कर नौकर से मिठाई ले

आने को कहा।

सुबोध चुपचाप खड़ा था कि मनोरमा ने पूछा, "तू हमारे यहाँ क्यों नहीं आता ?"

सुबोध क्या कहे, चुप रहा। मनोरमा उसे गोदी में उठाकर, पुचकारती बोली, "बोल, अब तो आवेगा ?"

सुबोध फिर भी चुप रहा।

मनोरमा ने हल्के उसके कान उमेठते पूछा, "बोल कब आवेगा ?"

सुबोध कह गया, "जब भैया भेजेंगे !"

सुबोध कहने को तो कह गया, पर देखा कि सामने कोई सुन रहा है। बात पलटते कहा, "तुम अमीर हो जीजी।"

"अमीर......?" मनोरमा मुस्कराई।

"हाँ, जो बँगले में रहते हैं, मोटर में जाते है, बिजली की रोशनी जलाते हैं, बढ़िया कपड़े पहनते हैं; वे सब अमीर हैं।" सुबोध एक स्वर में बोला।

"यह किसने सिखलाया रे ?"

"भैया ने ?" सुबोध गर्व से बोला और भैया की सिखलाई, रटी बातें दुहराने लगा, "भैया कहते हैं कि हमें अमीरों से वास्ता नहीं है। हम गरीबों के दर्जे के सिपाही हैं। मोटा खाना-पहनना उपहास की चीज नहीं, गौरव की बात है। अपने से नीचे वालों के दुःखों को हमें बाँटना है। यही हमारी तपस्या है, धर्म है और ध्येय !"

उसने सब कुछ छाती तान कर कह दिया।

लेफ्टिनेन्ट अब तक चुप थे, बोले, "भाई खूब, तुम तो बड़े होशियार हो।"

यह मनोरमा को बुरा लगा। उनको पूरी खुली आँखों से तरेरती बोली, "मिस्टर ज्ञानचन्द आप मनुष्य नहीं हैं। यही आपका मनुष्यत्व है ? आपको हमेशा उपहास ही सूझता है।"

सुबोध मौका ताक रहा था कि कैसे चिट्ठी दे। वह अपने आप ही तरकीब सोच रहा था। हठात् उसे अपनी नई साइकिल की याद आई। मनोरमा का हाथ पकड़ता हुआ बोला, "जीजी, मैंने नई साइकिल ली है। चलो तुमको दिखला आऊँ!"

मनोरमा उसके साथ बाहर आई। अभी तक मिस्टर ज्ञानचन्द मनोरमा के पिछले वाक्य को मन ही मन गुनगुना कर रह गये।

बाहर आते ही सुबोध ने मनोरमा को चिट्ठी दी और बोला, "भैया ने दी है। कहा था कि किसी के आगे मत देना।"

मनोरमा ने चिट्ठी ले ली और हँसते हुए कहा, "अपने भाई से कह देना कि आगे चिट्ठी भेजी तो पुलीस में रिपोर्ट कर दूँगी।"

पुलीस का नाम सुन कर सुबोध चौंका और कहा, "जीजी, तुम बड़ी खराब हो। भैया की रिपोर्ट करोगी। जाओ तुम्हारे घर कभी नहीं आऊँगा।"

मनोरमा ने देखा कि निरा मजाक भावुक बच्चे को डस गया है। उसने उसे गोदी में उठा कर कहा, "वह तो मैंने तुझे ठगने को कहा था। अच्छा एक बात पूछूँगी, कहेगा?"

"कौन सी बात?"

"तू अपने भैया को ज्यादा प्यार करता है या मुझे?"

"भाई को!"

"क्यों?"

"भैया ने नई साइकिल दी।" कहता-कहता वह उतर पड़ा और भाग कर साइकिल उठाई। उसे चलाते हुए कहा, "अब तुम्हारे घर कभी नहीं आऊँगा।" भाग गया।

मनोरमा सुबोध के इस प्रकार चले जाने से दुःखी हुई। जब नौकर मिठाई की तश्तरी लाया, तो उसने उसे खूब डाटा और साथ ही अपने मन ही मन प्रण किया कि जब तक वह सुबोध से यह न कहला ले,

कि भैय्या से ज्यादा उसे प्यार करता है, चैन नहीं लेगी।

अभी तक लेफ्टिनेन्ट चुप बैठा था। मनोरमा ने पूछा, "कैसा लड़का है ?"

"स्मार्ट ब्वाय ?"

मनोरमा ने चुटकी ली, "शीला का भाई है।"

"यह तो मैं पहले ही समझ गया था।"

परास्त मनोरमा बोली, "तुम बड़े निर्दयी हो ज्ञानचन्द !"

"निर्दयी ? शायद आप यह नहीं जानती हैं कि हमारा दिल नहीं होता है। सहृदयता क्या है, यह हमने नहीं सीखा। प्रेम की 'ट्रेनिंग' पल्टन में नहीं मिलती। पुरुषों से लड़ना हमें सिखलाया जाता है, स्त्रियों से नहीं। क्लब में शराब के 'पेग' चढ़ा कर भी हम नहीं सोच सकते कि हम प्रेम कर सकेंगे।"

"चुप रहो।" मनोरमा बोली !

लेफ्टिनेन्ट कह रहा था, "आपसे सच-सच कह रहा हूँ। शेर हमने मारे हैं और शेरनी का शिकार भी किया है। शेरनी, शेर से ज्यादा ताकतवर और चुस्त होती है।"

"शिकार की बात छोड़िए। क्या आपके पास और कुछ कहने को नहीं है ?" मनोरमा ने बात काटी।

"तो आप ही बतला दें, क्या कहूँ ?"

"क्या यह मुझे ही बतलाना पड़ेगा ?" कहती हुई मनोरमा चुपचाप बाहर चली गई। एकान्त में बाग के किनारे खूब रोई। फिर उसे प्रमोद के लिफाफे की याद आई। उसने उसे निकाला, चाहा कि बिना पढ़े ही फाड़ डाले। लेकिन पढ़ने का लोभ न सँवार सकी। चुपचाप पढ़ा, और पढ़ कर कहते कहते फाड़ डाला, "नीच, पापी, ढोंगी ! मनोरमा ही क्या प्रेम का खिलवाड़ रचने को रह गई है ? कायर, सभ्यता और ईमानदारी की आड़ में शिकार खेलना चाहता है।" टुकड़ों को पाँव से

कुचलती-कुचलती हुई घर की ओर बढ़ी।

मनोरमा के चले जाने पर लेफ्टिनेन्ट सोच रहा था कि शीला और मनोरमा अलग-अलग हैं। सुबोध जो बातें अनजाने रट गया है। शीला उनको समझती है और उनका पूर्ण महत्व जानती है। शीला एक-एक बात का जवाब कितना तोल-तोल कर देती है? कितनी गम्भीर है। सवाल का उत्तर कितनी सफाई से देकर, चुटकियों में कभी नहीं हारती।

कि मनोरमा आई, बोली, "मेरा माथा दुःख रहा है।" कहती-कहती सोफा पर लेट गई। लेफ्टिनेन्ट ने उसकी बातों की परवा नहीं की। उसकी आँखों के आगे जिस शीला की सौम्य मूर्ति का बिखरा चित्र फैला था। वह उसे एक दम बिगाड़ना नहीं चाहता था।

फिर मनोरमा बोली, "उफ? बड़ी पीड़ा हो रही है।"

अब वह उठा और पास आकर पूछा, "डाक्टर को बुलवा लूँ?"

मनोरमा मन ही मन कह रही थी कि यह कैसा आदमी है?

उसने तो पूछा, "अन्दर इत्तला करवा दूँ?"

मनोरमा अन्दर ही अन्दर जल-भुन कर राख हो गई।

अब लेफ्टिनेन्ट बोला, "आप बेकार बाग में घूमने गईं। ठण्ड लग गई होगी। आपको अपने स्वास्थ्य का पूरा खयाल रखना चाहिए।"

मनोरमा आँखें मूँदे सोच रही थी कि यह मनुष्य नहीं पशु है। कई बार मन में आता था कि कह दे—तुम मनुष्य नहीं हो। लेकिन बात मुंह तक आकर रुक जाती थी। वह चुप हो जाती थी।

आख़िर वह अपने से बाहर जरा गुनगुनायी, 'ओ माँ?' और अपना माथा दबाने लगी। हल्के अँधमुंदी आँखों से देखा कि वह 'पिक्चर गोअर' का 'समर नम्बर' देखने में मग्न था। मन मार कर चुप रही।

सुबोध घर पहुँचा। आज उसे अपनी जीत की बड़ी खुशी थी। आखिर उसने जीजी को कैसा चकमा दिया है। प्रमोद से उसने सब बातें दुहरा-तिहरा कर कहीं। प्रमोद ने उसे इस बहादुरी के लिये 'एयर-

पिस्टल' लाने का वादा किया और उसी सँध्या को एक खरीद कर ले आया।

रात्रि को फुरसत से प्रमोद ने सब बातों पर विचार किया और उसे लगा कि सुबोध ने रास्ते का जाल काफी हटा दिया है। यदि सुबोध खुद वहाँ जाना चाहेगा तो वह रोकेगा नहीं! वह उसे वहाँ नहीं भेजेगा।

तीन दिन कट गये। प्रमोद, सुबोध और चिट्ठी की बात पूरी करके कुछ निश्चित हो गया। घर के झमेले के बाहर उसे फुरसत नहीं मिली कि कुछ सोच ले। उधर मनोरमा की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। बार-बार उसका जी करता था कि सुबोध को अपने पास बुला सकती तो! फिर सोचती, नहीं यह उसकी हार होगी। लेकिन उसे सुबोध की तड़पन थी?

चौथे दिन प्रमोद के दिमाग में एक बात सूझी। उसने सोचा कि वह मनोरमा की एक मोम की मूर्ति बनायेगा। सब कुछ निश्चित करके वह अपने काम में जुट जाना चाहता था कि उसे याद आयी, उसके पास मनोरमा का कोई फोटो नही हैं। उसने सुबोध को बुलाया और कहा सुबोध अपनी मनोरमा जीजी का एक फोटो लाकर नहीं देगा?',

सुबोध ने अपनी बहादुरी जताने को कहा, "भैय्या तुम कहो, तो मैं मनोरमा जीजी को ला सकता हूँ।"

प्रमोद हँसता हुआ बोला, "उसे कौन पालेगा! तू फोटो ही ले आना। देख मेरा नाम न लेना।"

सुबोध ने सँध्या को स्कूल से लौटकर लाने का वादा किया।

मनोरमा का मन दिन-प्रति दिन भारी हो रहा था! अपने जीवन के सूने कोने को वह भर लेना चाहती थी। आखिर एक दिन वह उठी और बाजार से बहुत से खिलौने लिये; फिर मोटर में प्रमोद के घर गई। देखा, सुबोध बाहर अपनी साइकिल साफ कर रहा है। सुबोध ने कार की आवाज सुनी तो दौड़ा-दौड़ा पास गया। देखा कि मनोरमा जीजी

आई हैं। वह खुशी से पुलक कर नमस्ते करना भी भूल गया।

मनोरमा ने उसे अपनी गोदी में उठाते कहा, "इतने दिनों तक तू हमारे घर क्यों नहीं आया सुबोध?"

सुबोध के पास कोई जवाब नहीं था।

"तेरे भाई ने मना किया होगा"

"भाई!" सुबोध सँभला और चट ईश्वर की कसम खाकर बोला, "उन्होंने कुछ नहीं कहा है।"

मनोरमा अन्दर हँसी, फिर पूछा, "तो तू क्यों नहीं आया?"

सुबोध कुछ नहीं बोला।

मनोरमा बोली, "देख तेरे लिये कितने खिलौने लायी हूँ।" कह कर एक-एक उसे देते समझाने लगी। सुबोध को वह एक-एक खिलौने की बात समझाती थी और सुबोध कहीं भूल जाता, तो वह उसे फिर-फिर दुहरा कर बताती थी। सुबोध के मन में यह बात नहीं थी कि वह न लेगा। वह लेगा। भैया कुछ कहेंगे नहीं। कहेंगे भी तो फोटो लाकर माफी मिल जावेगी।

मनोरमा ने पूछा, "हमारे घर चलोगे?" और सुबोध से 'हाँ' पाकर वह अपनी जीत समझी। प्रमोद कमरे से सब कुछ देख रहा था। चिट्ठी के बाद उसे सामने आने का साहस नहीं हुआ। सुबोध लौटकर मोटर में आया तो अपनी 'एयर-पिस्टल' साथ लाना नहीं भूला। मनोरमा को दिखलाया कि उसका भाई लाया है। मनोरमा को लगा कि अनजाने ही वह उसे लजा रहा है। उसके उतने नए-नए खिलौने पाकर भी, वह अपने भाई की दी चीज नहीं भूलना चाहता है। वह बच्चे से क्या झगड़े? सुबोध मनोरमा के बँगले में पहुँच गया।

उसने गोल कमरे में जाकर देखा कि वही युवक आज वहाँ बैठा था। उसने उसे नमस्ते किया। वह बोला, "बहुत दिनों में आये

सुबोध !"

सुबोध इसका उत्तर क्या दे ? उसने मनोरमा की ओर देखा। मनोरमा ने इधर ध्यान नहीं दिया। वह कपड़े बदलने अन्दर चली गयी थीं।

लेफ्टिनेन्ट ने सुबोध को पास बुलाकर पूछा। "शीला क्यों नहीं आई ?"

सुबोध ने समझा कि जो आदमी मनोरमा जीजी के घर रहता है, वह उसका सगा होगा। बोला, "जीजी का इम्तहान है। रात दिन पढ़ती है।"

तो उसने कहा, "जब घर जाओ, अपनी शीला जीजी से कहना कि तुम बड़ी खराब हो।"

सुबोध को शीला अक्सर डाटा करती थी। वह इस बड़े विशेषण को जरूर कहेगा। यह उसने मन ही मन सोच लिया था।

आज मनोरमा खुद ही मिठाई की तश्तरी लाई थी। सुबोध को खिलाकर वह बोली, "चल तुझे घर छोड़ आऊँ।"

सुबोध मनोरमा के साथ बाहर आया और चुपके बोला। "जीजी, अपना एक फोटो नहीं दोगी। शीला जीजी का फोटो मेरे पास है, शानू जीजी का भी ?"

मनोरमा ने चुपचाप उसे अन्दर से एक फोटो लाकर दे दिया। फिर वह उसे मोटर में, उसके घर के फाटक के पास उतार गईं। सुबोध ने कितना ही कहा, 'जीजी अन्दर चलो।" पर वह नहीं मानी।

प्रमोद मोम गलाकर उसे हल्का नीला रंग दे रहा था कि सुबोध ने आकर फोटो दे दिया और अपनी पूरी बहादुरी सुनाई कि जीजी खुद आई थी। खिलौने भी लाई है।

प्रमोद अपने ही काम में मस्त था। मोम को काट-छाँट रहा था। कुछ नहीं बोला। फोटो ले लिया। उस रात भर वह सोया नहीं। सुबह

उठकर उसने देखा कि सच ही वह मनोरमा की मोम की मूर्ति बनाने में पूर्ण सफल रहा है। फोटो से मूर्ति अधिक खिली और सजीव लगती थी। वह अपनी इस सफलता पर बहुत खुश था।

उसने चाय पीने के बाद सुबोध को बुलाया और कहा, "सुबोध, तू अपनी मनोरमा जीजी के यहाँ जा। अब वहीं रहना। कहना, भैया, ने कहा है, कि इतने खिलौने इसी लिए दिये हैं ?"

सुबोध चुप था। वह अवाक् सा खड़ा था कि प्रमोद ने कहा, "अरे तुझसे नाराज थोड़े ही हूँ। दिन भर वहीं रहना। साँझ को जीजी के साथ शालीमार बाग जाना। मैं साँझ को वही मिलूँगा। पर देखना, लेफ्टिनेन्ट साथ न हो। सुबोध, मनोरमा को मैं क्या समझता हूँ, तू नहीं जानता। लेकिन देख, किसी से कुछ कहना मत।"

सुबोध आज तक अपनी बहादुरी में हारा नहीं था। यह वह समझ रहा था कि आज भी वह जीतेगा। मनोरमा उसका कहा नहीं टाल सकेगी। वह साइकिल दौड़ता हुआ जीजी के बँगले की ओर गया। बाहर देखा कि लेफ्टिनेन्ट बैटा है। लेफ्टिनेन्ट ने उसे पास बुलाकर पूछा, "शीला क्या बोली सुबोध !"

सुबोध ने कहा, "जीजी ने कहा है कि हम खराब ही सही, आप से क्या।"

कि मनोरमा आकर बोली, लेफ्टिनेन्ट साहब, यह करतूतें कब से शुरू की हैं।" और सुबोध से कहा, "'पोस्टमैन' बनना ठीक नहीं।"

सुबोध की समझ में कुछ नहीं आया। वह समझा कि जीजी नाराज हो गई है। लेफ्टिनेन्ट पर उसे बड़ा गुस्सा आ रहा था। रोनी सूरत बनाकर बोला, "जीजी, इन्होंने कहा था कि शीला जीजी से कहना कि तुम बड़ी खराब हो। जीजी बोली, हम खराव ही सही—आपसे मतलब।"

मनोरमा ने गुस्से में लेफ्टिनेन्ट को घूरा और सुबोध को गोदी में

लेकर प्यार से बोली, "मैं तुमसे गुस्सा थोड़े ही हूँ।"

सुबोध मानो सब कुछ पा गया। फिर उसने कहना शुरू किया, "जीजी, भैया नाराज हैं। कहने लगे, जा अपनी जीजी के पास रह, उसी के खिलौने ले। जीजी, मैं अब वहाँ नहीं जाऊँगा।"

आज मनोरमा को बड़ी खुशी हुई। उसे लगा कि उसने एक बड़ी बाजी जीत ली। काश इसी तरह लेफ्टिनेन्ट को जीत सकती! यह बात रह-रह कर उसके मन में उमड़-घुमड़ कर रह जाती थी।

दिन भर सुबोध मनोरमा के साथ रहा। सँध्या को बोला, जीजी, चलो मोटर में घूम आवें। मनोरमा राजी हो गई। अपनी जीत का उपहार पाकर वह खूब मग्न थी। वह सुबोध के साथ शालीमार बाग पहुँची। दोनों उतर पड़े और घूमने लगे।

हठात् मनोरमा ने देखा कि प्रमोद उनकी ओर चला आ रहा है। वह पास आया। बिल्कुल पास आकर बोला, "मनोरमा।"

मनोरमा आज इतनी प्रसन्न थी कि उसने प्रमोद को नमस्ते किया।

फिर प्रमोद ने कहा, "मनोरमा तुमने मेरी चिट्ठी का जवाब नहीं दिया।"

मनोरमा चुप रही।

अब वह बोला, "मनोरमा, शायद उसे पढ़कर तुमको हँसी आई हो। तुम हँस सकती हो। तुम खूब हँसना, लेकिन बात सच है।"

मनोरमा फिर भी चुप ही रही।

प्रमोद और पास आया, बोला, "मनोरमा, तुम जीती, मुझे माफ करना।"

अब मनोरमा ने कहा, "प्रमोद, हार-जीत का स्वाँग मैं नहीं जानती तुमको धोखा नहीं दूँगी। तुम्हारे लिए मेरे पास दया जरूर है, श्रद्धा नहीं।"

"मनोरमा..........?"

मनोरमा कह रही थी, "मैं जानती हूँ कि तुम मुझसे विवाह कर के समाज में अपना स्थान ऊँचा बना लेना चाहते हो। तुममें ही नई बात नहीं। मेरे पिता के ओहदे की वजह से मेरे प्रेमियों की संख्या बहुत बड़ी है।"

प्रमोद की समझ में कुछ नहीं आया। फिर भी वह अपने को सँभाले रहा। उसने मोम की मूर्ति निकाली और मनोरमा को सौंपते बोला, मनोरमा तुमने ठीक समझा है। स्त्री पुरुष से अधिक समझदार होती है। शायद मैं ही गलती पर था। मैं चाहता हूँ कि तुम मेरी इस यादगार को अपने पास रख लो। इसी के समान तुम्हारा हृदय······!"

मनोरमा ने प्रतिमा देखी—बिल्कुल फोटो से मिलती जुलती थी। उसने मन ही मन सोचा—पुरुष इतने नीच होते हैं कि अपने स्वार्थ के लिए दुनिया भर के साथ फरेब करते हैं। उसने मूर्ति उठाकर फेंक दी। गुस्से में सुबोध के तमाचा मारा और चुपचाप कार 'स्टार्ट' करके चली गई।

वह घर पहुँच कर बड़ी घबड़ाई थी। उसने सुना कि लेफ्टिनेन्ट बिना उससे विदा माँगे ही चला गया है। उसे बड़ी ग्लानि आ रही थी। आज के अपने व्यवहार से वह अपने को गिरी समझने लगी। उसे कुछ नहीं सूझा। हाँ, खूब फूट-फूट कर रोई। अगले दिन वह सो रही थी कि सुबोध आया और उसे जगाते बोला, "जीजी, बड़े भैया जा रहे हैं।"

"कहाँ?"

"इलाहाबाद।"

वह चौंकती बोली, "क्यों?"

"अब वहीं वकालत करेंगे। हम लोग कुछ दिनों के बाद वहीं चले जावेंगे।"

मनोरमा और कुछ पूछे कि सुबोध ने एक चिट दी। मनोरमा ने पढ़ा,

''मनोरमा।

मैं जा रहा हूँ, जहाँ अपना कोई नहीं; जिस समाज में अपना स्थान नहीं, अब वहाँ नहीं रहना चाहता हूँ। सदा के लिये जा रहा हूँ।

सुबोध को तुम अपने पास रखना। वही मेरी प्यारी धरोहर है। तुम यही चाहती थी। बस!

तुम्हारा,
प्रमोद"

मनोरमा ने पूछा, "सुबोध, गाड़ी कै बजे छूटती है?"

"सात बज के सत्तावन मिनट पर।"

मनोरमा ने घड़ी देखी, साढ़े सात हुए थे। जल्दी से ओवरकोट पहिन कर वह कार में स्टेशन की ओर बढ़ी कि 'रेलवे क्रासिंग' पर पहुँच कर देखा कि फाटक बन्द है।

फिर क्या देखा कि प्रमोद चुपचाप इन्टर-क्लास के डिब्बे में बैठा, खिड़की की ओर पीठ किये, अखबार पढ़ता हुआ गाड़ी के साथ चला गया।

अब वह सुबोध के साथ बाग में गयी। बहुत चाहा कि मोम की मूर्ति ढूँढ़ ले। बहुत खोज के बाद लोगों के पाँव से कुचली नीली चपटी मोम की एक चादर मिली।

मनोरमा ने उसे उठा, डला बनाते हुए सुबोध से कहा, "माफ करना मुझे! तुम्हारे भाई सच्चे थे। मैं धोखे में थी।" फिर बोली, "सुबोध, मैं तेरे भाई को खूब प्यार करती हूँ।"

सुबोध इस पहेली को न समझ सका। हाँ, उसे एक सवाल याद आया, ''तब मैं अब जीजी कहूँगा या भाभी?"

मनोरमा हँस दी।

खेल का आधार

मैंने उस राजिव की धारणा को गलत साबित करने के लिये बार बार दलील पेश की थी। वह कभी माना नहीं। मोटी किताब हाथ में लिए पढ़ता हुआ ही मिलता। किताब के कई पन्नों पर कुछ लाइनें लाल-लाल पेंसिल से चिह्नित थीं और किताब के बाहर सावधानी से मोटे अक्षरों से लिखा हुआ था, 'क्षय'।

इस रोग की ओर राजिव उत्साहित था। अपने प्रति उदासीन रह कर, बार-बार भारी निराशा का हेतु बनकर कह देता, "क्यों मेरे जीवन को लोभ से तोलता चाहता है रे?"

"क्या राजिव?"

"तुझे तो बार-बार मौत से डर लगता है।"

"किसे?"

"तुझे! तुझे ही क्या, सारी दुनिया इसे भय मानती चली आई है। तू ही पहला दार्शनिक नहीं। आदि काल से वह मीमांसा का हेतु रहा और आखिर तक कोई निपटारा कैसे हो सकता है।"

"लेकिन मैं कहता हूँ।"

ठीक बात होने पर भी अफसोस जरूर होता है। मैंने कहीं पढ़ा है, कि मौत के बाद प्राणों को बहुत दुःख होता है। वे उस हड्डी-माँस के लोथड़े के पास बार-बार मोहवश आ जाते हैं, किन्तु वहाँ फिर टिक नहीं सकते। यही है इस दुनिया का हाल!"

"तो राजिव, तुम सन्देह को उठाकर व्यक्ति की कीमत क्यों मिटाना चाहते हो? यह तो अनुचित ही है।" मैं झुँझला उठता।

"मैं! तब देख न यह।" यह कहकर राजिव चटपट उठकर मेज

से एक्स-रे के कई फोटो ले आता। हर एक को दिखला कर वह साबित कर देना चाहता था कि वह रोगी है। उसका दाहना फेफड़ा व्यर्थ है। तत्काल ही वह अपनी छाती से कपड़ा हटा कर, उसे बजा-बजा कर साबित करता कि रोग असाध्य है। वह घाव वाली जगह ढूँढ़ कर कह देता कि भारी पीड़ा वहीं होती है। तभी मैं कठोर बनकर हँसने लगता था। वह मजाक में कह ही डालता, "इसमें घबराहट का सवाल नहीं आता है। न इस तरह जीवन असार्थक होकर सड़ जायगा।"

सुशीला कमरे के भीतर आती। बहुत-सा जीवन फैला कर कहती, "क्या हो रहा है डाक्टर? किसी आपरेशन पर राय ली जा रही है। कुछ नहीं, किसी जीवित आदमी की चीर-फाड़ कर के क्लोरोफार्म के सहारे अपना रोजगार निभा लेते हो। जो वाहवाही मिलती है सो अलग!"

"क्यों सुशीला?" यह कह कर राजिव अपनी पैनी आँखों से सुशीला के हृदय को छेद देता। सुशीला मुरझा जाती। तब मैं परिस्थिति को सँभाल लेता। कहता, "तुम झूठा आदर बटोर लेती हो भाभी। यदि राजिव क्लोरोफार्म सावधानी से न दे तो फिर मेरे वश की कोई बात न रहे। यह सब तो उसका आधार है।"

सुशीला फिर भी नहीं चेतती थी। मैं अन्दाज कर कहता, "बेबी कहाँ है?"

"ओफ?" सुशीला के मुँह से अनायास निकल जाता। वह चटपट बाहर भाग जाती। नौकरानी से बेबी को लेकर अपनी छाती से सटा लेती है।

मुझे राजिव के अन्याय पर दुःख होता। क्यों वह अपनी पत्नी से भी ठठोली करने में नहीं चूकता है? समाज ने पति के सहारे नारी को टिका दिया है। वह अकेली खड़ी नहीं रह सकती है। जब यह सुशीला

राजिब की गृहस्थी में आयी थी, तब उसे बहुत संकुचित रहने की आदत थी। अब वह अच्छी तरह घर की व्यवस्था को संभालने में प्रवीण है। वह बेबी उनके जीवन का एक सहारा है। पति-पत्नी उसे लेकर अपना-अपना मन बहला लेते हैं।

सुशीला चली गई। लौटी नहीं। गृहस्थी के झंझटों के मारे उसे कम फ़ुर्सत मिला करती थी। फिर राजिव ने वही मोटी पोथी उठा ली। उसने कहा, "मौत अनिवार्य है। मैं किसी तरह जिन्दा नहीं रह सकता।"

मुझे गुस्सा चढ़ा। बोल बैठा "तुम बड़े कठोर हो, राजिव! नारी हृदय को कुचलना ही तुम्हारा धन्धा रह गया है।"

"नहीं रे! सुशीला सब जानती है।"

"क्या खाक-पत्थर!"

"वह जानती है कि मैं मर जाऊँगा।"

"झूठ! झूठ! यह सब तुम्हारा अपना बनाया हुआ फरेब है।"

"सच बोलने वाली विद्या तुझे किस गुरु ने सिखला दी? वह सुशीला मेरे फेफड़ों के एक-एक घाव की गहरायी जानती है। मैंने बड़ी-बड़ी रात को अपनी छाती पर स्थेटेस्कोप लगा कर उसके कानों को भी इतना तेज बना दिया है कि वह भूल नहीं कर सकती है। अपनी उँगलियों से वह उन घावों को छूकर रोज सहलाया करती है। अब उस सारी पीड़ा को समझ कर, आँसू बहाना उसको बाकी नहीं बचा है। वह दृढ़ बन गयी है। उसका नारीत्व अब अधारण भावुकता के साथ विद्रोह नहीं करता हैं।"

"लेकिन यह बौद्धिक डकैती है।" भारी आवाज के साथ, मैंने चटपट बात काट डाली।

"डकैती! तर्क करने का कौन-सा तरीका तुम ग्रहण कर रहे हो?" राजिब ने सँभलकर कहा।

"नहीं तो तुम इस तरह सुशीला को डराना कैसे सीख जाते। वह माँ है। पति और बेबी के बीच ही उसका अपना जीवन है। वहाँ तुम रुकावट डालकर उसे ठग लेगे तुले हो। क्या यही तुम्हारा उत्तरदायित्व है ?"

"फिर तू भूल कर रहा है। सुशीला बच्ची नहीं है। अब वह मुझे खूब पहचान गई है। वह सलोनी गुड़िया बनकर, मुझे मोह लेने का दावा नहीं करती। अब वह आज बात-बात में नहीं रूठेगी। मेरी हर एक बात उसे मान्य है। जब मैं आखिरी बार उसे सुझा कर कि मेरी मौत आ गयी, मर जाऊँगा, तब उसे आश्चर्य नहीं होगा। मुझे मुर्दा देख कर वह चकित नहीं होगी। उसका मुझपर पूरा-पूरा विश्वास है।"

मैं अधिक बात न सहकर उठ खड़ा हुआ। बहाना बना कर टाल कहीं, "उस 'गैंगरीन' के मरीज का आपरेशन जल्दी ही करना ठीक होगा। बड़ी आफत है। निराश होकर, रोगी को लोग हमारे अस्पताल में दखिल कर देते हैं।"

"तेरी परीक्षा लेने के लिए।" राजिव मुस्कराया। उस वक्त मैंने देखा कि मानो एक भारी घृणा सारी मनुष्य-जाति के लिए उसके दिल पर फैल गई हो।"

राजिव को एक अरसे से जानता हूँ। अनायास ही एक दिन उससे मेरी मुलाकात हुई थी। मेडिकल कालेज की आन्तिम परीक्षा का नतीजा लेकर वह आया था। उससे पहले कभी उसे देखा तक नहीं था। एक दिन बड़ी सुबह चाय पीकर कमरे में टहल रहा था। तभी देखा, काला ओवरकोट पहने मोटे काँच का चश्मा लगाये कोई दरवाजे पर खड़ा है। कुछ क्षण उस आगन्तुक की आँखों की ओर देखता ही रह गया। वह खुद ही बोला, "मुझे भीतर आने की इजाजत मिल सकती है ?"

—"हाँ ! हाँ ! आइए ।"

वह बेतकल्लुफी से सोफा पर बैठ कर बोला, "बहुत जल्दी में चला आया हूँ । कुछ चाय-वाय अँडा-केक का इन्जाजाम तो कर लो । भूख बहुत लगी है ।"

जब वह खा चुका, तब स्वस्थ होकर बोला, "हो तुम भले आदमी, जितनी तारीफ सुनी थी उससे कुछ रत्ती अधिक ही मिले । फिर भी आदमी का तोल नहीं हो सकता है । अच्छा खाली हो न ! तुम्हारी 'इंगेजमेंट-बुक' तो एकदम कोरी है । अच्छे वक्त पर तुमको पकड़ा है । बहुत दिनों से चाहता था कि तुमसे मिल लूँ । आज मौका मिला । तब सुनाने आया हूँ कि तुम अव्वल नम्बर में पास हुए हो । तुम्हारी इस छपी तसवीर के आगे कई बार सुबह से माथा झुका चुका हूँ ।"

मैं कोई बात न कह सका । उसके हाथ से अखबार ले लिया । सरसरी तौर पर पास-शुदा लड़कों के नाम पढ़े और अखबार वहीं मेज पर रख दिया । चुपचाप अपने में ही न जाने क्या-क्या सोचने लगा । जितना ही अपने भीतर कुरेदता उतना ही अपने को व्यर्थ पाता था ।

वह राजिव आगे चलकर मेरा पक्का दोस्त बन गया । उसने मुझे एक मिनट नहीं छोड़ा । वह डॉक्टरी की उच्च शिक्षा लेने आया था । उसका विचार था कि हिन्दुस्तान में लाखों लोगों को डाक्टरी इलाज सुलभ नहीं है । उनकी रक्षा राष्ट्र की उन्नति के लिए जरूरी है । वह ऐसे लाखों अपाहिजों की रक्षा करना अपना ध्येय बनाना चाहता था । इसके लिये वह एक कुशल व्यवसायी की तरह ढाँचा तैयार करता । अस्पताल की इमारत की जरूरतें व औजारों की सूची बनाता । वह पैसे का मोहताज नहीं था । इसी लिए सफलता पूर्वक उसने अपना रोजगार आरम्भ कर दिया था । उस राजिव को पाकर मैंने फिर उसका साथ नहीं छोड़ा । अपने ध्येय को सफलता से निभाया ।

और एक यह है सुशीला ! राजिव जो कहता है, मैंने उसके विरुद्ध

कभी राय नहीं दी। विवाह और नैतिकता पर बहुत-सी दलीलें देकर वह इस नतीजे पर पहुँचता था कि चरित्र गलत चीज है। इसी चरित्र के कारण कई लोग सफल नहीं हो पाये हैं। वह इसी लिए कभी चरित्र को व्यक्ति से ऊपर उठाने का पक्षपाती नहीं रहा। जब मैं विरोध में कुछ कहता, वह सुनकर हँस देता और कहता, "कालेज की परीक्षा और जीवन के अनुभव अलग-अलग चीजें हैं।"

मैं अधिक तर्क नहीं करता था। एक रात को वह आकर मेरे कमरे का दरवाजा खट-खटाने लगा। आधी रात थी। वह बोला "मैं तेरे लिए भाभी तलाश करके ले आया हूँ।"

"कहाँ है वह ?"

"यहीं खड़ी है। रोशनी-वोशनी तो कर ले। वह क्या समझेगी ? राह भर तेरी तारीफ करता-करता चला आया हूँ। वह तुझे पहचानती है"

"मुझे !"

"हाँ, हाँ ! तुझे ही। एक दिन एक गरीब बुढ़िया की लड़की को मैंने अस्पताल में दाखिल करवा देने से इनकार किया था। मैं उसकी आरजू-मिन्नत पर नहीं पिघल सका। वह दुबली-पतली लड़की अपनी माँ की ओट में छिपी खड़ी थी। तुमने उनको आश्रय दिया था। उसके 'टान्सिल' का आपरेशन सफलता पूर्वक कर, अपनी सहानुभूति से उबार लिया। दो साल बाद अपने उस आश्रयदाता के पास वह लड़की आई थी। तुम बाहर चले गये थे। उसकी माँ बीमार पड़ गई। वह घबरा गई थी। लेकिन बुढ़िया बची नहीं। मैं उस लड़की को अपने साथ ले आया हूँ।"

मैंने ठीक तरह रोशनी करके देखा कि वह सुशीला ही थी। अब वह माँ है। उस बेबी का नाम उसने कृष्णा रक्खा है। कृष्णा की तुलना जब मैं सुशीला से करता हूँ, तब बहुत खुशी होती है।

मैंने समीप से उस सुशीला को देखा है। एक मेहमान की हैसियत से उनके परिवार में हूँ। पहले और आज की सुशीला में भारी अन्तर पाता हूँ। अब वह बहुत कम बातें करती है। गंभीर और चिन्तित लगती है। फिर उसने पति की ओर ताकना शुरू कर दिया है। कृष्णा की आदतों में कुतूहल है। समूचे रूखे वातावरण के बाद उससें खेलने में बड़ा आनन्द आता है। वह तुतलाकर बोलती है। उसे प्यार करते करते मन थकता नहीं है।

फिर यह राजिव !

वहीं बड़ी मोटी क्षय की पोथी है। इन्जेक्शन लेगा। कई बार अपने थूक और खून की परीक्षा करेगा और दौड़ा-दौड़ा पहुँचेगा सुशीला के पास। उसे माइक्रास्कोप में कीटाणुओं को दिखाता हुआ समझावेगा, "वे हैं न गुलाबी-गुलाबी कीटाणु। वे ही क्षय के है। साफ़-साफ़ दीख पड़ते हैं न ? उनको मैंने काफी कठिनाई से रँगा है।"

फिर किताब का कोई अध्याय खोलकर, प्रोफेसर की तरह उसकी व्याख्या कर, अनर्गल बोलता चला जायगा। सुशीला को इस सब का बहुत ज्ञान नहीं है। वह फिर भी सुनेगी। या एकबारगी घबरा कर मेरे पास चली आयेगी। मैं 'दिलासा दूँगा। उसका डर नहीं हटेगा। भला उसके पति को झूठ बोलने से मतलब ही क्या है ?

राजिव के ऊपर मुझे बहुत गुस्सा आता है। वह चाहता क्या है। मैं कुछ नहीं कहता। सहमी सुशीला कृष्णा को गोद में लेकर निर्भय हो जाती है।

उस दुपहरी को राजिव मेरे पास आया था। आकर तपाक से बोला, "आज मैंने अपने फेफड़ों का एक्स-रे फोटो लिया है।"

"क्या जरूरत पड़ गई थी ?"

"ऐसे ही एक सनक सवार हो गई। तुझे सुनकर आश्चर्य

होगा कि मैं क्षय का रोगी हूँ।"

"तुम रोगी हो !" अचरज में मैंने पूछ डाला।

"हाँ, नहीं तो ये घाव भला क्यों होते।"

मैं फोटो देखकर अवाक् रह गया। फिर कहा, "बहम है तुम्हारा ! इतने स्वस्थ तो हो। क्या और चाहिए ?"

राजिव चुपचाप उदास हो गया।

मैंने अपने मन में सोचा, अज्ञानता ज्ञान से भली है ! समझदार होकर हम निराशा बटोर लेते हैं। अन्धकार में जहाँ अपनी कुरूपता व त्रुटियों को पहचानते देर लगती है—वही है साध्य ?

आगे राजिव के प्रति मेरा मोह बढ़ता चला गया। उसकी बातें सुनकर कुछ जवाब नहीं देता था। उसके आगे मेरा दिल कोमल पड़ गया। वह किताब पर लिखी बातें सुनाया करता था। वह कहता कि क्यों वह कुछ बातों से सहमत नहीं है ?

...राजिव मर गया। सारी दुनिया भ्रम की तरह रह गई। वही जो रोज अपने नजदीक था, खो गया। सुशीला लुटी-ठगी-सी, स्तम्भित खड़ी थी। जो झूठ था, उसे अब विवेक से तोल लिया करता है। फिर सुशीला तो अब रोकर थक गई है। लेकिन कृष्णा उसी तरह हँसती है ! आज वही बच्चों वाली आदत बनाए है। कुछ बदली नहीं मिलती। अनजान होना कितना सुखद है।

उस यक्ष्म रोग की मोटी पुस्तक की ओर आँख उठाकर देखता हूँ ! लगता है कि राजिव उस पर लिख गया है—यह तो एक इम्तहान था तेरा ?

अपने जीवन, सुशीला के दुःख और कृष्णा का जीवन का आधार क्या निरा एक खेल ही था ?

फिर भइया नहीं लौटा !

"कालीदास...हाँ, कालीदास...आँधी...वशिष्ठ...गोविन्दप्रसाद !... ...और शारदा...शारदा...ठहर, तू क्या कह रहा है ?......"

वह भयानक दृष्टि, उसका यह कथन, वह नवयौवन की तरंग, वह समझ, वह अज्ञानता—सब कुछ एकाकार...। फिर, इस पर भी आज्ञा का पालन !—या फिर निपट उपेक्षा !—यह सब क्या था ?—हाँ, क्या रहस्य था ? वह पागल था, या दार्शनिक ? यह पहेली हल नहीं कर पाता !

वह बाईस-तेईस साल का नवजवान छोकरा, कनपटी पर बाईं ओर, आँख की सीध में का खोट । वह क्या था, वह कौन था—और यह कैसी विडम्बना थी......। वही क्या सत्य था, वही क्या पूर्णता थी, वही क्या निश्चित अन्त था ?......

वह मेरा भइया था। वह मेरा ही सगा भइया था। सच, वह मेरा अपना भइया था। याद आती है—पुरानी, बहुत पुरानी, कई साल पुरानी,—बचपन की, जीवन के उल्लासपूर्ण स्वतन्त्र युग की......

वह याद, चित्रित-सी, आँखों के आगे बिखरी है। उसे समेट रहा हूँ; उसे आँख फाड़-फाड़कर देख रहा हूँ......

मैं था, भइया था, पेड़ों से बीन-बीन कर आम लाये थे। पानी खूब बरसा था, हम लथ-पथ भीग रहे थे। भइया अभी-अभी रोग से उठा था; माँ ने उसे डाँटा था; और वह रो उठा था—आँसू बरसे थे...। वे आँसू आज मुझे रुला रहे हैं । मैं रोना चाहता हूँ..., वे आँसू मेरे रुके, दुःखित भार का बहा रहे हैं। हृदय का नासूर फूट निकला है। याद आती है—फिर भइया......

अवाक् रह जाता हूँ । लुटा-सा, ठगा-सा, कुछ ढूँढता हूँ......। कुछ प्रतिध्वनि-सी मखौल उड़ाती सुनता हूँ......

"कालीदास......हाँ, कालीदास......"

चौंक उठता हूँ । कुछ निश्चित नहीं कर पाता । सोचता-ही सोचता रह जाता हूँ......। यही-सा—सच, यही-सा,.......—हाँ, यही-सा वह बकता था—"कालीदास......हाँ, कालीदास ......।"

वह यही कहता था । इस वाक्य का महत्व वही जानता था । यही चिल्लाना उसका मूल मन्त्र था ।

सच, वह मेरा भइया था ।

उसी भइया को एक दिन साथ लाया था—पहाड़ से मोटर पर । साथ में पुलिस के दो सिपाही थे । उसके हाथों पर हथकड़ी थी । वह उदास था, सुस्त था ।

वही भइया बरेली स्टेशन पर साथ उतरा । साथ में वे ही पुलिस के सिपाही थे । ताँगे पर बैठा कर वे उसे ले गये थे और मैं अपना सामान, चुपचाप कुली के सिर पर रखवा, हृदय में दुःख का घोंसला बना, पास के एक होटल की ओर बढ़ गया था......।

वहाँ की उसकी दिनचर्या कोई न सुनाता था; वहाँ से कोई चिट्ठी थोड़े ही भेजता है । सरकारी ख़ज़ाने में भला, इतना रुपया कहाँ ?

एक दिन मैं उसे देखने गया था । उसने आकर, झुककर, हाथ जोड़े थे । मैंने पूछा था, "मैं कौन हूँ ?"

"तुम पण्डित......," वह बोला था ।

"तुम कैसे रहते हो ?"

"अच्छ ।"

"पेट-भर खाना मिलता है ?"

"हाँ ।"

मैं चुपचाप उसे देख रहा था । वह विचित्र-सा लगता था । फटे

कपड़े थे; पाँव भी फट गये थे। जाँघ पर एक घाव था। उस पर मैला चिथड़ा लिपटा था। आँखें घुसी, डरावनी लगती थीं। मेरा दिल रो उठा था……। उसने सन्नाटा तोड़ कर पूछा, "तौलिये में क्या है ?"

वह ललचाई आँखों से इधर-उधर देख रहा था।

"फल, मिठाई……।"

उसकी आँखें उस पर गड़ी थीं।

मैंने पूछा था…"खाओगे ?"

"हाँ,…" वह गले से भर्राई आवाज़ निकाल, बोला था।

मैंने तौलिया खोल लिया था……तरबूज़, ख़रबूज़, मिठाई उसे दे दिये। वह उनको जल्दी-जल्दी निगल रहा था…। उसके खाने में एक निपट पशु-भाव था। आख़िर वह क्या था……?

वह सब चट कर गया। वह बड़ा भूखा था…। मैंने पूछा था—मैं जाऊँगा……।

"जाओ"—वह बोला था।

"बहिन की शादी हो गई, दद्दा बी० ए० पास हो गये ……"

"अच्छा"……जैसे कोई खास बात ही न हुई थी—उपेक्षा का-सा भाव था।

"मेरे साथ चलोगे……"

"हाँ" और वह लोहे के बड़े-बड़े फाटकों की ओर बढ़ रहा था।

"माँ के पास चलेंगे, हाँ !"

उसने उत्तर नहीं दिया। वह खिल-खिलाकर हँस पड़ा। आगे उसने किसी बात का उत्तर नहीं दिया,—वह विभत्स हँसी हँस रहा था। वह पागल था या दार्शनिक ?

वह मेरा ही भइया था।

भइया और मैं साथ-साथ कॉलेज में पढ़ते थे। उसका स्वास्थ्य

बिगड़ गया । लोगों ने कहा, विक्षिप्त हो गया । होमियोपैथिक, ऐलोपैथिक, डॉक्टर, हकीम, वैद्य—सबको दिखलाया था।

एक ने कहा,—डॉक्टर राय की पेटन्ट दवा दो.........।

दूसरा कहता था —कविराज सेन की दवा करो.......। एक पानी का इलाज बतलाता, तो दूसरा बिजली का।

दद्दा ने कहा—दिनू तू यहाँ रह । मैं इसे पहाड़ माँ के पास ले जाऊँगा। वहाँ इसका जी बहलेगा। यह अच्छा हो जावेगा।

बस, वे साथ ले गये थे।

वह क्या करता था ?—कुछ भी तो नहीं। बोलता कम था; बातों का उत्तर तक न देता था। एकाकीमय बन गया था—मानो संसार के मोह की डोरी से हट गया हो। स्वार्थ की डोरी ढीली और अपने पराये का परदा हट गया हो......उसने जैसे सारे नाते-रिश्ते भुला दिये हों........।

पहाड़ से चिट्ठी आई—वह रास्ते की एक सराय से आधी रात को कहीं भाग गया। कहाँ चला गया, कोई नहीं जानता था। कोई चारा न था। फिर सातवें रोज़ चिट्ठी मिली कि वह मिल गया। एक गाँव में, सराय से चलीस मील की दूर पर। गाँव के चश्में में पानी पीता था, काला कम्बल ओढ़े था। गाँव की स्त्रियाँ पानी भरने आईं, तो चौंक उठी। गाँव में शोर मच गया। गाँव के शरारती लड़के उसे पथराने लगे। एक बूढ़ा गाँव वाला आया, उसने उसे पहचान लिया—कभी बचपन में देखा था। बोला, अरे तू.........?

भइया बोला था—हाँ, भूख लगी है; खाना खिला दो।

आगे कोई बात नहीं हुई—लोग यही कहते थे।

दद्दा की चिट्ठी आई—वह अच्छा नहीं हो रहा है। ऊँचे पहाड़ पर ले जाने की ठानी है। शायद वहीं ठंड से अच्छा हो जावे.......।

ऊँची पहाड़ी पर बसे, गाँव में उसे ले गये। माँ रोती थी; वह

खिल-खिला कर हँस-भर देता था। फिर, हाँ, हँसता ही था। आगे वह मार पीट करने लगा। शोर-गुल भी मचाता था। उसे बाँधे रहते थे, पकड़े रहते थे—मानो वह कोई हिंसक जन्तु था। वह मारपीट करता, तो लोग भी उसे खूब मारते। उस पर मार पड़ती थी और मैं चुपचाप कोने में जाकर रोता था। वह मेरा वही पुराना भइया था।

मजिस्टेट के यहाँ अरजी दी, सिविलसर्जन ने सार्टिफ़िकेट लिखा; कानूनी फ़ॉर्म भरा था।

—भइया को आगरे भेजा था।

वहाँ वह चुप रहता था। "हाँ, बातों का अगट-शगट उत्तर देता है" डॉक्टर ने कहा था।

माँ ने लिखा—मेरा बच्चा अब कुछ नहीं करता। उसे ले आओ, कोई हर्ज नहीं। और, भइया को छुड़ा लाये थे…।

पहाड़ी गाँव में माँ सुबह उठकर उसे नहलाती थी; सिर पर मक्खन मलती थी लाड़-प्यार से खिलाती थी।

एक दिन उसने फिर ऊधम मचा दिया—गाँव की एक छोटी लड़की पर हाथ उठाया।

मैंने कहा—भैया, यह क्या ?

वह मुझ से भी भिड़ पड़ा था। खूब गुत्था-गुत्था रही और फिर गाँव वालों ने उसे खूब पीटा। उसे चुपचाप रस्सियों से जकड़कर कमरे के एक कोने में लुढ़का दिया…।

मैं चारपाई पर बैठा, माथे की पट्टी ठीक कर रहा था। माँ और गाँव की औरतें चटाई पर थी।

एक गाँववाली कह रही थी—एक तो गया, अब दूसरे को भी ले जाने तुला है। भगवान् ने आज बचा लिया, नहीं तो…

फिर उसने प्रतिदिन नए काण्ड शुरू कर दिये थे। चिल्लाता था, कमरे के दरवाजे ताड़ता था, हाथ-पाव इधर-उधर फेंकता था। वह

उत्तेजित रहता, आँखें लाल ही रहती थीं। हाथों को रस्सी से बाँधते हैं, उन गड्ढों की वेदना आज भी छटपटा रही है।

एक दिन चुपचाप मैंने दया कर खोल दिया था—लेकिन इस दया ने उसे न-जाने क्या सुझाया कि वह उसी दिन मुझ पर टूट पड़ा...।

वह अपनों से घृणा करता था। उन पर मौका पा, टूट पड़ता था। जो उसके जितना ही निकट था, उस पर उसका उतना ही अधिक रोष था।

माँ ने कहा—मैं यह नहीं देख सकती। लेजा इसे, नहीं तो... ?

मैंनें कहा "माँ!"

वह रोने लगी और कहा—समझ लूँगी कि वह मर गया...।

उसी दोपहर को मैं चारपाई पर आँखें मूँदे लेटा था और माँ एक पड़ोसिन से कह रही थी—"लोग मरों को भूल जाते हैं। यह मर जाता, तो अच्छा होता, जीता दुःख नहीं सहा जाता ...।"

पड़ौसिनें समझा रही थीं—"अच्छा हो जावेगा...।"

माँ ने ममता की डोरी से उसे हटा दिया। उसका बरताव ही कुछ इतना कठोर था। यह कैसी दूकानदारी थी ? मँहगा सौदा कोई नहीं चाहता।

पटवारी ने रिपोर्ट की; मजिस्ट्रेट ने फिर ऑर्डर दिया। पुलिस के सिपाही उसे बाँधकर ले गये—मैं साथ था। माँ उस दिन खूब रोई। दूर तक पहुँचाने आई। मैं पहाड़ की चोटी से देख रहा था कि गाँव के पास टीले पर एक मलिन छाया खड़ी है...मैं उसकी डबडबाई आँखें पढ़ रहा था...।

बस, भइया को बीस साल की उम्र में बरेली भेजा था...।

—आज फिर वही मखौल उड़ाती चीख सुन रहा हूँ—"काली-दास......हाँ, कालीदास........"

कनपटी का वह खोट याद आ रहा है...। हाथों के गड्ढे दिल पर

लगे दुःख रहे हैं···। उसकी याद आई है। और, एक दुःखान्त, एक नैराश्य,—मेरी एक आशा छू हो गई!

कुछ नहीं, ब्रिज खेल रहा था। साधारण ब्रिज, ताशों का। सब मित्र साथ थे। बड़ी चुहल मची थी। पोस्टमैन आया—चिट्ठी लाया था। जीवन-ब्रिज खिल चुका था—नहीं, सत्य!—सत्य!!

चुपचाप उठ आया। हृदय रोना चाहता था। नगर की एक शून्य गली पार की, बिजली के खम्भे के सहारे पड़ा·········।

वह मेरा भइया था।

भरपेट एकान्त में रोया। वह कितना अभागा निकला—बड़ा अभागा!—वह, हाँ, अकेला—पास में अपना सगा कोई नहीं। जेलवाले कहते हैं, वह···, पर क्या यह सच है? लोग तो कहते हैं कि वहाँ·········!

सोचता हूँ, जेल में एक रात्रि बड़ा शोर मचा होगा। वह चिल्लाया होगा। दिसम्बर १६३५ की उस १६ तारीख को डायरा ने उस पर ज़ोर पकड़ा होगा····; कौन जाने, अन्तिम समय उसे एक बार अपने भूले आत्मीयों की याद आई हो। उस सूनी अँधियारी कोठरी में उसे डर लगा हो, वह बिलबिलाया हो और फिर सारी माया, सारा मोह, सारी ममता, छोड़ कर प्राण·········।

सुबह उसका निर्जीव देह वाडर ने देखा होगा। सारी जेल में हल्ला मचा होगा। डॉक्टर आया होगा और·········और······· अस्पताल से मुरदा गाड़ी पर उसका शव निकला होगा···वहाँ उसके लिए किसी ने आँसू न बहाए होंगे। हाँ, शायद प्रातःकाल के जाड़े में इस अनावश्यक फ़ज़ीते के लिए उसे चार गालियाँ भी कुछ ने दी हों···मुरदागाड़ी में उसका शव बिना कफ़न के लिटाया गया होगा·········रामगंगा के तट पर·······फूँकने को पूरा रुपया थोड़े ही मिलता है·······किसे उसकी

चिन्ता थी? रुपया बाँट लिया होगा। यहीं उसके जीवन का अन्त था। कितना अटल दुर्भाग्य और कितनी अधूरी व्यथा!

फिर सोचता हूँ, दद्दा जेल में गये होंगे। बड़े उत्साह में होंगे। साथ में फल, मिठाई वग़ैरह ले गये होंगे। सावधानी से गेटवाले वार्डर से कहा होगा—उसे देखने आया हूँ...बुलाने को कह दो...वार्डर ने सुनाया होगा कि........?

हाथ से फल-मिठाई छूट गये होंगे। सन्न से रह गये होंगे। दुःख दबा, आँसू पी, दफ़्तर में गये होंगे, नियमित हिस्ट्री मिली होगी........।

लुटे-से घर आये होंगे। माँ को चिट्ठी लिखी होगी, अपने-पराये को चिट्ठी डाली होगी........

अब माँ ने भी सुन लिया होगा। वह फूट-फूटकर रो रही होगी। घर पर कुहराम मचा होगा...माँ का श्रीहीन मुखड़ा मेरी आँखों के आगे नाच रहा है........ माँ की गोदी का वह घाव कैसे भरेगा....बड़ी देर रोते-रोते होगई ... जीवन फीका लग रहा है... दिल दुःख रहा है....उसका सारा जीवन आँखों के आगे खेल रहा है। सारा सजीव दुःखान्त मुसुकरा रहा है। उस मुसुकराहट में देख रहा हूँ—कनपटी पर बाँईं ओर आँख की सीध का वह खोट...उसमें सुन रहा हूँ ....'काली-दास........हाँ, कालीदास........ आँधी........

वह क्या था—पागल या दर्शानिक?

वह मेरा भइया था—मेरा ही।

सच, मेरा ही भइया था...।

—भइया को बरेली भेजा था........

फिर भइया लौटकर नहीं आया!